नवजीवनमाला—१

गीताबोध

[श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य]

गांधी जी

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

—: संस्करण :—

सितम्बर, सन् १९३२ : ५०००
मार्च, सन् १९३८ : ५०००

मूल्य डेढ़ आना

मुद्रक,
रतन प्रेस, रजिस्टर्ड,
दिल्ली ।

अनुक्रम

निवेदन

ता० ४-११-'३० के दिन यरवड़ा जेल से पूज्य गांधीजी ने सत्याग्रह आश्रम साबरमती को एक पत्र में लिखा था—

"आश्रम में पालन किये जानेवाले व्रतों के बारे में, यज्ञ के बारे में, और यज्ञ की आवश्यकता के बारे में हम विचार कर चुके। अब जिस पुस्तक का हम हर पखवाड़े में रोज थोड़ा-थोड़ा करके परायण करते हैं, मनन करते हैं, जिसे हमने अपने लिए आध्यात्मिक दीपस्तम्भ या ध्रुवरूप बना रक्खा है, उसे मैं जिस तरह समझा हूँ, उसका विचार कर लेना चाहता हूँ। यह विचार पहले एक पत्र से तो सूझा ही था, गत सप्ताह...भाई के पत्र ने मुझसे इसका निश्चय कराया। वह लिखते हैं, कि वह अनासक्तियोग पढ़ते तो हैं, पर समझने में कष्ट

बहुत होता है। आम-फ़हम भाषा में अर्थ करने का प्रयत्न करते हुए भी शब्दशः अनुवाद करने के कारण समझने में कठिनाइयाँ तो रही ही हैं। जहाँ विषय ही कठिन हो, वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? अतएव अब विषय को ही सरल या आसान भाषा में समझाने का प्रयत्न करने का विचार है। जिस चीज़ का हम चलते-फिरते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायता से हम अपनी तमाम आन्तरिक उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, वह ग्रन्थ जितनी तरह से, और जिस तरह समझ में आवे, उस तरह हम उसे समझें, और बार-बार उसका मनन करें तो अन्त में हम तन्मय हो सकेंगे। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता माता के पास दौड़ जाता हूँ और आज-तक आश्वासन पा सका हूँ। इसलिए जो उससे आश्वासन पानेवाले हैं, सम्भव है, उन्हें वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले, जिस रीति से मैं रोज़-ब-रोज़ गीता को समझता जाता हूँ,

अथवा यह भी असम्भव नहीं कि उन्हें उसमें से कुछ नया ही दीख पड़े ।"

इसके साथ उन्होंने भक्तियोग की अपनी व्याख्या भी भेज दी थी। उसके बाद ता० ११-११-'३० को अपने दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा था—

"गीता महाभारत का एक छोटा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। पर हमारे विचार में महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं, बल्कि धर्म-ग्रन्थ हैं। अथवा यदि इन्हें इतिहास कहें, तो यह आत्मा का इतिहास है। और, यह हजारों वर्ष पूर्व क्या हुआ था, उसका वर्णन नहीं, बल्कि आज प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या चल रहा है, उसका चित्रण है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर की, राम और रावण की प्रतिदिन होनेवाली लड़ाई का वर्णन है। इस वर्णन में गीता कृष्ण और अर्जुन के बीच का संवाद है। इस संवाद

का वर्णन सञ्जय अन्धे धृतराष्ट्र से करते हैं। गीता अर्थात् गाई हुई। इसमें उपनिषद् अध्याहार है। अतएव सम्पूर्ण अर्थ गाया हुआ उपनिषद् हुआ। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान या बोध। इसलिए गीता का अर्थ हुआ, श्रीकृष्ण का अर्जुन को दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए, कि हमारी देह में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण यानी भगवान् आज विराजते हैं। और, जब अर्जुन के समान जिज्ञासु बनकर धर्म-संकट में अन्तर्यामी भगवान् को पूछते हैं, उनकी शरण जाते हैं, तब वह हमें शरण देने को तैयार ही रहते हैं। हम सोये हुए हैं। अन्तर्यामी तो हमेशा जागता है। वह इस बात की बाट जोह रहा है कि हममें जिज्ञासा पैदा हो। पर हमें तो सवाल पूछने नहीं आते। सवाल पूछने को मन भी नहीं होता। इसलिए गीता-जैसी पुस्तक का नित्यप्रति ध्यान धरते हैं। उसका मनन करते-करते अपने में धर्म-जिज्ञासा पैदा करना चाहते हैं, सवाल पूछना सीखना

चाहते हैं। और जब-जब सङ्कट में पड़ते हैं तब-तब सङ्कट टालने के लिए हम गीता के पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। हमें गीता को इस दृष्टि से पढ़ना है। वह हमारे लिए सद्गुरु रूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद मे सिर रखने से हम सही-सलामत रहेंगे। गीता के द्वारा हम अपनी तमाम धार्मिक उलझनें सुलझावेंगे। इस विधि से जो रोज़ गीता का मनन करेगा, उसे उसमें से नित नया आनन्द मिलेगा—नये अर्थ प्राप्त होते रहेंगे। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके। हमारी ओछी या कम श्रद्धा के कारण हमें पढ़ना और समझना रुचिकर न हो, यह भिन्न बात है। पर हमारी श्रद्धा रोज़ बढ़ती जाय, हम सावधान बने रहें, इसीलिए गीता का परायण करते हैं। इस प्रकार गीता का मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमें से प्राप्त हुआ है, और अबतक मिलता आरहा है,

उसका सारांश आश्रमवासियों के लिए नीचे देता हूँ।"

और इसी पत्र के साथ अर्जुनविषादयोग की व्याख्या भेज दी थी।

इस तरह प्रति सप्ताह एक के बाद एक मिलनेवाली व्याख्याओं का यह संग्रह है।

साबरमती
ता० १६-११-'३०

नारायणदास खु० गांधी
मंत्री, उद्योग-मन्दिर

गीताबोध

: १ :

अर्जुनविषादयोग

[मंगल प्रभात

जब पाण्डव और कौरव अपनी सेना लेकर लड़ाई के मैदान में आ खड़े हुए, तब कौरवों का राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य से दोनों दलों के मुख्य योद्धाओं का वर्णन करता है। लड़ाई की तैयारी पूरी होते ही दोनों ओर के शंख बजते हैं और श्रीकृष्ण भगवान्, जो अर्जुन के रथ हाँकनेवाले हैं, अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच लाते हैं। यह देखकर अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्ण से कहता है— "मैं इनसे कैसे लड़ूं? दूसरों के साथ लड़ना

होता, तो मैं अभी लड़ लेता, पर ये तो स्वजन हैं, मेरे ही हैं। कौरव कौन, और पाण्डव कौन? सब चचाज़ाद भाई! हम एक साथ बड़े हुए। द्रोण अकेले कौरवों के आचार्य थोड़े ही हैं? हमें भी उन्होंने सारी विद्या सिखाई है। भीष्म तो हम सबके गुरुजनों के भी पितामह हैं। उनसे लड़ाई कैसी? यह सच है कि कौरव अत्याचारी हैं, उन्होंने बहुतेरे दुष्ट कर्म किये हैं। अन्याय किये हैं। पाण्डवों की जमीन छीन ली है और, द्रौपदी के समान महासती का अपमान किया है। यह सब उनका दोष अवश्य है, पर उन्हें मारकर मैं कहाँ जाऊँ? वे तो मूढ़ हैं। मैं उनके समान क्यों बनूं? मुझे तो कुछ ज्ञान है, सारासार का विवेक है। इसलिए मुझे जानना चाहिए कि सगों या रिश्तेदारों के साथ लड़ने में पाप है। भले वे पाण्डवों का हिस्सा हड़प करके बैठे हों। भले वे हमें मार डालें। पर हम उन पर

हाथ कैसे उठावें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सब सम्बन्धियों से नहीं लड़ूंगा।" इतना कह, बेहोश होकर अर्जुन अपने रथ में गिर पड़ा।

[इस प्रकार यह अध्याय समाप्त होता है। इस अध्याय का नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषाद अर्थात् दुःख। जैसा दुःख अर्जुन को हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। बिना धर्म-वेदना और धर्म-जिज्ञासा के ज्ञान मिलता नहीं। जिसके मन में अच्छा क्या और बुरा क्या, यह जानने की इच्छा तक नहीं होती, उसके आगे धर्म-वार्ता क्या ? कुरुक्षेत्र की लड़ाई तो निमित्त-मात्र है। सच्चा कुरुक्षेत्र तो हमारा शरीर है। वह कुरुक्षेत्र भी है और धर्मक्षेत्र भी। यदि हम उसे ईश्वर का निवासस्थान मानें और बनायें तो वह धर्मक्षेत्र है। उस क्षेत्र में प्रति दिन हमारे सम्मुख कोई-न-कोई लड़ाई होती ही है। और

ऐसी अधिकांश लड़ाई का मूल "यह मेरा" और "वह तेरा" की भावना है। स्वजन-परजन के भेद से ही ऐसी लड़ाई होती है। इसी कारण भगवान् अर्जुन को कहने वाले हैं कि अधर्म-मात्र का मूल 'राग-द्वेष' है। 'मेरा' माना कि 'राग' उत्पन्न हुआ, 'दूसरे का' माना कि उसमें 'द्वेष' उत्पन्न हुआ। वैर-भाव जन्मा। इसलिए मेरे-तेरे का भेद भूलने योग्य है। राग-द्वेष छोड़ने योग्य है। गीता और सारे धर्म-ग्रंथ इसी बात को पुकार-पुकार कर कहते हैं। यह कहना एक बात है, इसके अनुसार करना दूसरी बात। गीता हमें इसके अनुसार करना भी सिखाती है। यह कैसे, सो समझने का हम प्रयत्न करेंगे।]

[यरवड़ा-मन्दिर ११-११-३०]

: २ :

सांख्ययोग

[मंगल प्रभात

जब अर्जुन कुछ स्वस्थ हुआ तो भगवान् ने उसे उलाहना दिया और कहा, तुझे ऐसा मोह कहाँ से हो गया है ? तेरे जैसे वीर पुरुष को यह शोभा नहीं देता। परन्तु इतने से अर्जुन का मोह दूर होने वाला न था। उसने लड़ाई से इनकार किया और कहा— "इन सगे-सम्बन्धियों को और गुरुजनों को मारकर राजपाट तो क्या, स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहिए। मैं तो असमंजस में पड़ा हूँ; इस समय धर्म क्या है, कुछ समझ नहीं पड़ता, आपकी शरण में हूँ, मुझे धर्म समझाइए।"

अर्जुन को बहुत दुखी और जिज्ञासु पाकर भगवान् को दया आई और उसे समझाने लगे—"तू बिना कारण दुखी होता है और बिना समझे ज्ञान की बातें करता है। देह और देह में रहने वाली आत्मा के भेद को ही भूल गया-सा जान पड़ता है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्म ही से नाशवान् है। देह में जैसे जवानी और बुढ़ापा आते हैं, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर भी देही का नाश नहीं होता। देह का जन्म होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो अजन्मा है। उसे क्षय और वृद्धि नहीं, वह तो हमेशा थी, आज है और अब से आगे भी रहेगी। अतः तू किसका शोक करता है? मोह के कारण ही तेरा यह शोक है। इन कौरवादि को तू अपना समझता है, अर्थात् तुझमें ममत्त्व पैदा हुआ है। पर तू याद रख कि

जिस देह के लिए तुझे ममत्व है, उसका तो नाश अवश्यम्भावी है। यदि उसमें रहने वाले जीव का विचार करेगा, तो तुरन्त ही तेरी समझ में आजायगा कि उसका नाश करने का सामर्थ्य किसीमें नहीं। उसे न आग जला सकती है, न पानी डुबो सकता है, न हवा उसे सुखा सकती है। हाँ, और तू अपने धर्म का विचार कर देख। तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह फ़ौज इकट्ठी हुई है। अब तेरे कायर बनने से तो जैसा तू चाहता है, उसके विपरीत नतीजा निकलेगा और तेरी हंसी होगी। अबतक तेरी गिनती बहादुरों में हुई है। अब यदि तू बीच में ही लड़ना छोड़ देगा, तो लोग कहेंगे कि तू डरकर भागा। यदि भागना धर्म हो, तो लोक-निन्दा की कुछ परवा नहीं, पर यहाँ तो तेरे भागने से अधम होगा और लोक-निन्दा उचित ही कही जायगी। यह तो दुहेरा दोष होगा।

ये तो मैंने तुझे बुद्धि की दलीलें बताईं, आत्मा और देह का भेद बताया, और तेरे कुल-धर्म की तुझे याद दिलाई। पर अब मैं तुझे कर्मयोग की बात समझाता हूँ। कर्मयोग का अभ्यास या आचरण करने वाले को नुकसान होता ही नहीं। इसमें तर्क की बात नहीं, इसमें तो आचरण की, काम करके अनुभव करने की बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हज़ारों तर्क की अपेक्षा एक रत्ती भर भी आचरण बढ़कर है। इस आचरण में यदि भले-बुरे परिणाम का तर्क शामिल हो जाय तो वह दूषित बन जाता है। परिणाम का विचार करते ही बुद्धि मलिन होती है। पोथी-पण्डित लोग कर्मकाण्ड में लग कर अनेक प्रकार के फल पाने की इच्छा से कई क्रियायें शुरू कर बैठते हैं। एक से फल-प्राप्ति न होने पर दूसरा काम करने दौड़ते हैं। और

किसी ने तीसरी क्रिया बताई, तो उसे भी करने का प्रयत्न करते हैं। यों करते-करते उनकी मति अस्थिर हो जाती है। वस्तुतः मनुष्य का धर्म तो फल का विचार किये बिना कर्त्तव्य कर्म करते रहना है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्त्तव्य है। इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत, तेरे हाथ नहीं। तू भारवाही कुत्ते की भाँति इनका भार क्यों उठाता है? हार-जीत, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, देह के पीछे लगे ही हैं। मनुष्य को चाहिए, कि इन्हें सहन करे। परिणाम चाहे जो हो, उसके बारे में निश्चिन्त रहकर, समता रखकर, मनुष्य को अपने कर्त्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम 'योग' है, और इसी में कर्म-कुशलता है। अर्थात् कार्य की सिद्धि उसके करने में है, उसके परिणाम में नहीं। तू स्वस्थ हो। फल का अभिमान छोड़ दे और कर्त्तव्य का पालन कर।"

यह सुनकर अर्जुन कहता है—"यह तो मेरी शक्ति से परे की बात मालूम होती है। हार-जीत का विचार छोड़ना, परिणाम का विचार ही न करना, यह समता, यह स्थिर बुद्धि कैसे आ सकती है, ऐसी स्थिर बुद्धि वाले कैसे होते हैं, उनकी पहचान क्या है, मुझे समझाइए।"

इसपर भगवान् ने जवाब दिया—"हे अर्जुन ! जिस मनुष्य ने अपनी समस्त कामना का त्याग किया है, अपने अन्तर में से ही जो सन्तोष ग्रहण करता है, वह स्थिरचित्त, स्थिरप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। वह मनुष्य न दुःख से दुखी होता है, न सुख से फूलता है। सुख-दुःखादि पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। इसलिए ऐसा चतुर मनुष्य कछुए की भाँति अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है। पर कछुआ तो जब दुश्मन को देखता है, तभी

ढाल के नीचे अपने अंग समेटता है, जब कि मनुष्य की इन्द्रियों पर तो विषय नित्य ही चढ़ाई करने को तैयार रहते हैं; इसलिए उसे तो हमेशा इन्द्रियों को समेट रखना और स्वयं ढालरूप बनकर विषयों से लड़ना है। यही सच्चा युद्ध है।

"कोई विषयों का निवारण करने के लिए देह का दमन करते हैं। उपवास करते हैं। यह ठीक है। जबतक उपवास किये जाते हैं तबतक इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं दौड़ती; पर अकेले उपवास से रस सूख नहीं जाते। उपवास छोड़ते ही वे और भी बढ़ सकते हैं। रस को वश में करने के लिए तो ईश्वर का प्रसाद आवश्यक है। इन्द्रियाँ तो इतनी बलवान् हैं कि वे मनुष्य को, यदि वह सावधान न रहे, तो बलात् घसीट कर ले जाती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा इन्द्रियों को अपने

क़ाबू में रखे। लेकिन यह तभी हो सकता है, जब वह ईश्वर का ध्यान धरे, अन्तर्मुख बने, हृदय में रहनेवाले अन्तर्यामी को पहचाने, उसकी भक्ति करे। इस तरह जो मनुष्य मुझ में परायण होकर और रहकर अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है।

जो ऐसा नहीं करता उसकी क्या दशा होती है, वह भी कहता हूँ। जिसकी इन्द्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक बरतती हैं, वह रोज विषयों का ध्यान धरता है। इसके कारण उसे उनकी लगन लगती है, उनके सिवा उसे दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। इस लगन से उसमें काम उत्पन्न होता है, और उसकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर अर्धपागल तो बनता ही है, उसे अपना भान भी नहीं रहता। स्मरण न रहने से वह अण्ड-बण्ड बकता और; बरतता

है। ऐसे मनुष्य का आखिर नाश न हो तो और क्या हो? जिसकी इन्द्रियाँ इस तरह भटकती फिरती हैं, उसकी स्थिति बिना कर्ण-धार की नौका के समान हो जाती है। चाहे कैसी भी वायु नाव को जहाँ-तहाँ घसीट ले जाती है। और आखिर, किसी चट्टान से टकरा कर नाव चकनाचूर हो जाती है। यही दशा उसकी होती है, जिसकी इन्द्रियाँ भटका करती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह काम-नाओं का त्याग करे। इन्द्रियों को वश में रक्खे। इन्द्रियों को वश में रखने का अर्थ यह है कि वे कुकार्य न करें। आँख निर्विकार रहेगी पवित्र वस्तु ही देखेगी; कान भगवद्भजन सुनेंगे या दुखियों की पुकार सुनेंगे; हाथ-पैर सेवा-कार्य में लगे रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्य के कर्त्तव्य में ही परायण रहेंगी और उसीसे ईश्वर प्रसाद प्राप्त होगा। जब वह प्रसाद मिलता है,

तभी सब दुःख दूर हो जाते हैं। इसे निश्चय समझ।

"सूर्य के तेज से जैसे बर्फ़ पिघल जाती है, वैसे ही ईश्वर-प्रसाद के तेज से दुःख-मात्र दूर हो जाता है और ऐसा मनुष्य स्थिरबुद्धि कहलाता है। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसकी भावना अच्छी कैसे हो सकती है? जिसकी भावना अच्छी नहीं उसे शान्ति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख कहाँ? स्थिरबुद्धि मनुष्य को जहाँ दिन की भाँति साफ़ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिर मनवाले दुनिया के झमेले में पड़े देख ही नहीं सकते। और जो इन दुनियादारों को स्पष्ट-सा प्रतीत होता है, समाधिस्थ योगी उसे स्पष्टतया मलिन पाता है। फलतः उस ओर नज़र उठाकर देखता तक नहीं। ऐसे योगी की तो वह स्थिति होती है, कि जैसे नदी-नालों का पानी समुद्र में जाकर शान्त हो जाता

है, वैसे ही विषयमात्र इस समुद्ररूप योगी में शान्त हो जाते हैं, और ऐसा मनुष्य समुद्र की तरह शान्त रहता है। इसलिए जो आदमी सब कामनाओं को छोड़ कर, निरहङ्कार बन कर, ममता का त्याग करके तटस्थ भाव से बरतता है, वह शान्ति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्ति की स्थिति है और यह स्थिति जिसकी अन्त समय तक टिकती है वह मोक्ष पाता है।"]

[यरवड़ा-मन्दिर १७-११-३०

: ३ :

कर्मयोग

[सोम प्रभात

स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि मनुष्य को शान्त होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणों में उसने कर्म का तो नाम तक न सुना। इसलिए भगवान् से पूछा—"आपके कथन से तो ऐसा मालूम होता है, कि कर्म की अपेक्षा ज्ञान अधिक है। इस कारण मेरी बुद्धि परेशान होती है। यदि ज्ञान अच्छा है, तो मुझे घोर कर्म में क्यों फँसाते हैं? मुझे साफ-साफ कहिए, कि मेरी भलाई किसमें है।"

तब भगवान् ने जवाब दिया—"हे पाप-रहित अर्जुन, पहले से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं। एक में ज्ञान को प्रधान पद है, और दूसरे में कर्म को। लेकिन तू ही देख सकेगा कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता ; बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं। सब कुछ छोड़ कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता। तू देखता है कि हर एक आदमी कुछ-न-कुछ कर्म तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ-न-कुछ करायेगा। जगत् का यह क़ानून (नियम) होते हुए भी जो आदमी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहता है, और मन में अनेक प्रकार की कल्पनायें या संकल्प-विकल्प करता रहता है, उसकी गिनती मूर्खों में होती है और वह मिथ्याचारी भी कहा जाता है। इससे क्या यह अच्छा नहीं कि इन्द्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर,

बिना धाँधली के, बिना आसक्ति के, अर्थात् अनासक्त रहकर, वह हाथ पैर से कुछ कर्म किया करे—कर्मयोग का आचरण करे? नियत कर्म, तेरे हिस्से आया हुआ सेवा-कार्य, तू इन्द्रियों को वश में रखकर किया कर। आलसी की भाँति बैठे रहने से यह अच्छा ही है। आलसी बनकर बैठे रहने वाले का शरीर आखिर क्षीण हो जाता है। पर, कर्म करते हुए इतना याद रखना, कि यज्ञकार्य को छोड़ कर अन्य सब कर्म लोगों को बन्धन में रखते हैं। यज्ञ, अर्थात् अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकारार्थ किया गया श्रम, अर्थात् संक्षेप में, सेवा। और, जहाँ सेवा के लिए ही सेवा की जाती है, वहाँ आसक्ति या राग-द्वेष नहीं होते। यह यज्ञ, यह सेवा, तू किया कर। ब्रह्मा ने यह जगत् पैदा किया और उसके साथ ही यज्ञ को भी जन्म दिया—मानो हमारे कान में उसने यह

मन्त्र फूँका—"पृथ्वी पर जाओ। एक-दूसरे की सेवा करो और वृद्धि पाओ। जीव-मात्र को देवतारूप समझो। इन देवों की सेवा करके तुम इन्हें प्रसन्न रक्खो, ये तुम्हें प्रसन्न रक्खेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनवांछित फल देंगे।" अर्थात् यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बग़ैर, उनका भाग उन्हें प्रथम दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है। और जो लोक का, जीवमात्र का, भाग उन्हें पहुंचाकर बाद में खाते हैं, या कुछ भोगते हैं, उन्हें भोगने का अधिकार है। अर्थात् वे पापमुक्त होते हैं। इसके विपरीत जो अपने लिए ही कमाते हैं, मज़दूरी करते हैं, वे पापी हैं और पाप का अन्न खाते हैं। सृष्टि का नियम ही ऐसा है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है, और वर्षा यज्ञ से, अर्थात् जीव-मात्र की मेहनत से पैदा होती है। जहाँ जीव

नहीं है, वहाँ वर्षा भी नहीं पाई जाती ; जहाँ जीव हैं, वहाँ वर्षा है ही। जीव-मात्र श्रमजीवी है, मेहनत करके जीने वाला है। कोई लेटे-लेटे खा नहीं सकता। और यदि यह बात मूढ़ जीवों के विषय में सच है, तो मनुष्य के लिए कितनी ज्यादा हद तक सच होनी चाहिए ? इसलिए भगवान् ने कहा है, कि कर्म ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से हुई। इससे यह समझना चाहिए कि यज्ञमात्र में, सेवामात्र में, अक्षर ब्रह्म, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस घटमान का, इस रहँट का, जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

[मंगल प्रभात

जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है, और सन्तुष्ट रहता है, कह सकते हैं कि उसके लिए कुछ कार्य है नहीं, उसे कर्म करने से कुछ

लाभ नहीं, न करने से भी नहीं। उसे किसीके बारे में कोई स्वार्थ नहीं होता, तो भी यज्ञकर्म को वह छोड़ नहीं सकता। इसलिए तू तो नित्य कर्त्तव्य-कर्म करता रह, परन्तु उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति मत रख। जो अनासक्ति-पूर्वक कर्माचरण करता है, वह ईश्वर का साक्षात्कार करता है। और देख। जनक के समान निस्पृही राजा कर्म करते-करते सिद्धि पा गये; क्योंकि वे लोकहित के लिए कर्म करते थे। तो फिर तू इसके विपरीत आचरण कैसे कर सकता है? नियम ही ऐसा है, कि अच्छे और बड़े माने जानेवाले लोग जैसा आचरण करते हैं, जन-साधारण उन्हींकी नक़ल करते हैं। मुझे देख। मुझे कर्म करके कौनसा स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घण्टे अविराम कर्म में ही लगा रहता हूँ। और यह देख कर लोग भी तदनुसार कम या अधिक मात्रा में बरतते हैं।

पर यदि मैं आलस्य करूँ तो दुनिया का क्या हो ? सूर्य, चन्द्रमा, तारे इत्यादि स्थिर हो जायँ तो जगत् का नाश हो; यह तो तू समझ सकता है। और इन सब को गति देनेवाला—नियम में रखनेवाला—तो मैं ही हूँ न ? पर लोगों में और मुझमें इतना फ़र्क़ ज़रूर है—मुझे आसक्ति नहीं ; लोग आसक्त हैं ; स्वार्थ के वश होकर मज़दूरी किया करते हैं। तुझ-जैसा समझदार ज्ञानी कर्म छोड़े, तो लोग भी वैसा ही करें और बुद्धि-भ्रष्ट बनें। तुझे तो आसक्ति छोड़ कर ही कर्त्तव्य करना चाहिए। जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य के स्वभाव में जो गुण विद्यमान हैं, उनके वश होकर वह कार्य तो करता ही रहेगा। मूर्ख ही यह मानता है, कि 'मैं करता हूं'। साँस लेना जीव-मात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसीके बैठते ही मनुष्य स्वभा-

वतः पलक हिलाता है। तब वह नहीं कहता, कि 'मैं साँस लेता हूँ', 'मैं पलक मारता हूँ'। यों, जितने कर्म किये जायँ, वे सब स्वभाव से ही गुणानुसार क्यों न हों? उनके लिए अहङ्कार क्या? और, इस प्रकार बिना ममत्त्व के सहज कर्म करने का सुवर्ण-मार्ग यह है कि सब कर्म मेरे अर्पण किये जायँ, और मेरे निमित्त निर्भय होकर किये जायँ। यों करते हुए जब मनुष्य में से अहंवृत्ति, स्वार्थभाव नष्ट होता है, तब उसके कर्म-मात्र स्वाभाविक और निर्दोष बन जाते हैं, वह अनेक झंझटों से मुक्त हो जाता है। फिर उसके लिए कर्म-बन्धन जैसा कुछ नहीं रहता। और, जहाँ स्वभाव के अनुसार कर्म होता है, वहाँ बलात् न करने का दावा करने में ही अहंता है। ऐसा बलात्कार करने वाला भले बाहर से कुछ न करता हुआ-सा प्रतीत हो, भीतर तो उसका मन प्रपञ्च रचता ही रहता है। यह

बाह्य चेष्टा से भी बुरा है, और अधिक बन्धन-कारक है।

हकीकत यह है कि इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष रहता ही है। कान को अमुक सुनना पसन्द होता है और अमुक ना-पसन्द। नाक को गुलाब का फूल सूँघना पसन्द पड़ता है, मल आदि की दुर्गन्ध नहीं भाती। यही हाल सब इन्द्रियों का समझ ले। अतएव मनुष्य को जो करना है, वह तो यह है कि वह इन राग-द्वेष रूपी दो लुटेरों के वश में कभी न हो, और इन्हें निकाल बाहर फेंके। इसके लिए कर्म को ढूंढ़ता न फिरे। आज यह, कल दूसरा, परसों तीसरा, यों व्यर्थ हाथ-पैर न पटके। पर अपने हिस्से जो सेवा आवे, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तत्पर रहे। इस प्रकार करने से यह भावना उत्पन्न होगी कि जो कुछ करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान

उपजेगा और अहंभाव मिट जायगा। इसका नाम है, स्वधर्म। स्वधर्म पर डटे रहना, क्योंकि निज के लिए वही उत्तम है। भले, परधर्म अधिक अच्छा दिखाई देता हो, तो भी यह समझ कि वह भयानक है। स्वधर्म का आचरण करते हुए मृत्यु की भेंट करने में मोक्ष है।"

राग-द्वेश-रहित होकर ही कर्म करना चाहिए। यही यज्ञ है। जब भगवान् ने यह कहा, तो अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य किसकी प्रेरणा से पापकर्म करता है? अक्सर ऐसा मालूम होता है, मानो कोई ज़बरदस्ती इसे पापकर्म की ओर घसीटता हो।"

भगवान् बोले—"मनुष्य को पापकर्म की ओर घसीटनेवाला काम है, और क्रोध है। ये सगे भाई-से हैं। काम पूरा न हुआ कि क्रोध आकर खड़ा ही तो है। और जिसमें काम-क्रोध है, उसे हम रजोगुणी कहते हैं। मनुष्य

का बड़ा शत्रु यही है। इसीसे रोज़ युद्ध करना है। दर्पण पर धूल छा जाने से जैसे वह धुंधला हो जाता है, अथवा आग जब तक धुआँ होता है, तब तक ठीक से सुलगती नहीं, या गर्भ जब तक झिल्ली से ढका रहता है, तबतक उसका दम घुटता रहता है, वैसे ही काम-क्रोध ज्ञानी क ज्ञान को तेजस्वी नहीं होने देते, धुंधला कर देते हैं या उसका दम घोंट देते हैं। यह काम अग्नि के समान विकराल है, और इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सबको अपने वश करके मनुष्य को पछाड़ता है। इसलिए तू सब से पहले इन्द्रियों पर कब्ज़ा जमा ले, फिर मनको जीतना; ऐसा करते हुए बुद्धि भी तेरे वश होकर रहेगी क्योंकि यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर एक दूसरे से बढ़कर हैं, तो भी इन सबकी अपेक्षा आत्मा बहुत अधिक है। मनुष्य को आत्मा की—अपनी—शक्ति का भान नहीं है,

इसी कारण वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, या मन स्थिर नहीं रहता, या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही दूसरा सब आसान हो जाता है। और, जिसने इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को वश में कर रक्खा है, काम-क्रोध या उनकी असंख्य सेना उसका कुछ भी नहीं कर सकती।"

इस अध्याय को मैंने गीता को समझने की कुञ्जी कहा है। और इसका सार हम एक वाक्य में यह देखते हैं कि 'जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं।' इसलिए हमें जीवन को यज्ञमय बना लेना चाहिए। यह समझ लेने से ही ऐसा हो नहीं जाता। पर यह जानकर आचरण करते हुए हम उत्तरोत्तर शुद्ध बनते हैं। किन्तु सच्ची सेवा किसे कहा जाय? यह जानने के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। ऐसा करने से हम उत्तरोत्तर

सत्य-रूपी परमात्मा के निकट पहुंचते जाते हैं। युग-युग में हमें सत्य के अधिक दर्शन होते हैं। सेवा-कार्य भी यदि स्वार्थ की दृष्टि से किया जाय तो वह यज्ञ नहीं रहता। इसलिए अनासक्ति की परम आवश्यकता है। इतना जान चुकने पर हमें किसी दूसरे-तीसरे वाद-विवाद में नहीं पड़ना पड़ता। अर्जुन को सचमुच ही स्वजनों को मारने का बोध दिया था? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न फिर उठते ही नहीं। अनासक्ति आने पर हमारे हाथ में किसीको मारने की छुरी होते हुए भी, सहज ही वह हाथ से छूट पड़ती है। पर अनासक्ति का आडम्बर करने से वह नहीं आती। हम प्रयत्न करें, तो आज आवे, या हज़ारों वर्ष प्रयत्न करने पर भी न आवे। इसकी भी चिन्ता हमें छोड़नी होगी। प्रयत्न में ही सफलता है। प्रयत्न सचमुच ही करते हैं कि नहीं, इसकी हमें पूरी

निगरानी रखने की आवश्यकता है। इसमें आत्मा को धोखा न देना चाहिए। और इतना ध्यान रखना तो सब के लिए शक्य है ही।

[यरवडा-मन्दिर ता० २४–२५। ११–३०

: ४ :

ज्ञान-कर्मयोग

[मंगल प्रभात

भगवान् अर्जुन से कहते हैं—मैंने तुझे जो निष्काम-कर्मयोग बताया, वह बहुत प्राचीन काल से चला आया है। वह कोई नई बात नहीं। तू प्रिय भक्त है, इसलिए और अभी तू धर्म संकट में है, इसलिए, उससे मुक्त करने के विचार से मैंने तुझे यह सिखाया है। जब-जब धर्म की निन्दा होती है और अधर्म फैलता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। भक्तों की रक्षा करता हूँ। पापियों का संहार करता हूँ। मेरी इस माया को जो

जानता है और विश्वास करता है कि अधर्म का लोप होगा ही, साधु पुरुष का रक्षक ईश्वर है ही, वह धर्म का त्याग नहीं करता और अन्त में मुझे पाता है। चूँकि ऐसे लोग मेरा ध्यान धरने वाले होते हैं, मेरा आश्रय लेने वाले होते हैं, इसलिए काम-क्रोधादि से मुक्त रहते हैं, और तप और ज्ञान द्वारा शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करते हैं, वैसा फल पाते हैं। मेरे क़ानूनों से बाहर जाकर कोई रह नहीं सकता। गुण-कर्म के भेदानुसार मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, तो भी यह न मान कि उनका कर्त्ता मैं हूं। क्योंकि मुझे उस कार्य से किसी फल की अपेक्षा नहीं, उसका पाप-पुण्य मुझे न होगा। यह ईश्वरीय माया समझने-जैसी है। जगत् में जो भी काम होता है, वह सब ईश्वरीय नियमों के अनुसार होता है, फिर भी ईश्वर उससे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उसका कर्त्ता भी है

और अकर्त्ता भी। यों अलिप्त रहकर, बिना फल की इच्छा किये, जिस प्रकार ईश्वर बरतता है, वैसे मनुष्य भी बरते, तो अवश्य मोक्ष पावे। ऐसा मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है। मज़दूरी में न हो, तो भी क्रिया के रूप में, उसका फल उसे मिलता ही है। फल तो अनन्त है, पर क्रिया में तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा करते समय याज्ञिक में पवित्रता इत्यादि भी होनी चाहिए। ऐसे समय याज्ञिक को किसी प्रकार की कामना नहीं करनी चाहिए।

ऐसे मनुष्य को न करने योग्य काम की भी तुरन्त ही ख़बर हो जाया करती है। जिन के लिए कामना है, जो बिना कामना के हो ही नहीं सकते वे सब न करने के कर्म कहाते हैं—जैसे कि चोरी, व्यभिचार वग़ैरा। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। अतएव जो कामना और संकल्पों को छोड़कर

कर्त्तव्य-कर्म करता रहता है, कह सकते हैं कि उसने अपनी ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा अपने कर्म जला डाले हैं। इस प्रकार जिसने कर्म-फल का सङ्ग छोड़ा है, वह आदमी हमेशा सन्तुष्ट रहता है, सदा स्वतन्त्र होता है। उसका मन स्थिर रहता है। वह किसी प्रकार के संग्रह में नहीं पड़ता और जैसे नीरोग मनुष्य की शारीरिक क्रियायें सहज गति से हुआ करती हैं, वैसे ही ऐसे मनुष्य की प्रवृत्तियाँ सहज हुआ करती हैं। वह स्वयं उन्हें कर रहा है, इस बात का अभिमान उसे नहीं होता, भान तक नहीं रहता। स्वयं निमित्त-मात्र बना रहता है। सफलता मिली तो भी क्या, और निष्फलता मिली तो भी क्या, वह न फूल उठता है, न घबराता है। उसके कर्म-मात्र यज्ञरूप या सेवार्थ होते हैं। वह समस्त कर्मों में ईश्वर को ही देखता है और अन्त में ईश्वर को ही

पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकार के बताये गये हैं। उन सबके मूल में शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है। किसी को दान देना दूसरा प्रकार है। प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए किया गया यज्ञ है। इसका ज्ञान किसी जानकार गुरु से सीखा जा सकता है। यह विनय, लगन, और सेवा ही से प्राप्त हो सकता है। सब बिना समझे ज्ञान के नाम से अनेक प्रवृत्तियाँ शुरू कर दें, तो अज्ञान-जन्य होने के कारण भले के बदले बुरा भी कर बैठें। इसलिए प्रत्येक कार्य के ज्ञान-पूर्वक होने की पूरी आवश्यकता है।

यह ज्ञान, अक्षर-ज्ञान नहीं। इस ज्ञान में शंका को स्थान ही नहीं रहता। श्रद्धा से इसका आरम्भ होता है और अन्त अनुभव से। ऐसे ज्ञान द्वारा मनुष्य सब जीवों को अपने में

देखता है और अपने को ईश्वर में—अर्थात् उसे यह सब प्रत्यक्ष की भाँति ईश्वरमय प्रतीत होता है। यह ज्ञान पापियों में भी जो नामी पापी है, उसका भी उद्धार करता है। यह ज्ञान मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्त करता है। अर्थात् कर्म के फल उसे स्पर्श नहीं करते। इस-सा पवित्र इस जगत् में और कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रख कर, ईश्वर परायण होकर, इन्द्रियों को वश में रख कर यह ज्ञान पाने का प्रयत्न करना; इससे तुझे परम शान्ति मिलेगी।

[यह अध्याय, और तीसरा और पाँचवाँ अध्याय—ये तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। इनसे अनासक्ति योग क्या है, यह मालूम हो जाता है। यह अनासक्ति या निष्कामता कैसे मिल सकती है, सो भी इनमें बहुत कुछ हद तक बता दिया है। इन तीनों अध्यायों को भलीभाँति समझ लेने

पर बाद के अध्यायों को समझने में कम कठिनाई पड़ती है। बाद के अध्याय हमें अनासक्ति पाने के साधन अनेक रीति से बताते हैं। इस दृष्टि से गीता का अभ्यास हमारे लिए जरूरी है। ऐसा करते हुए हम अपनी दैनिक उलझनों को गीता-द्वारा बिना परिश्रम के सुलझा सकेंगे। रोज़मर्रा के अभ्यास से यह हो सकता है। सब आज़माइश कर देखें। क्रोध चढ़ा नहीं, कि तुरन्त ही तत्सम्बन्धी श्लोक याद करके उसे दबा दिया; किसी से द्वेष होने लगे, धैर्य छूटने लगे, अघोरी-पन—पेटूपन—सवारी गाँठने लगे, क्या करना, क्या न करना, ऐसा सङ्कट आ पड़े, तब ऐसे तमाम सवालों का हल यदि श्रद्धा हो, और नित्य मनन हो, तो गीता-माता के नज़दीक मिल जाता है। हमें इसकी आदत पड़ जाय, इसीलिए रोज़ का पारायण है, और इसी कारण यह प्रयत्न है।]

[यरवडा-मन्दिर, ता० १-१२-३०

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

[सोम प्रभात

अर्जुन कहता है :—"आप ज्ञान को अधिक बताते हैं, इससे मैं यह समझता हूँ कि कार्य करने की जरूरत नहीं। संन्यास ही अच्छा है। पर साथ ही कर्म की भी स्तुति करते हैं, इससे ऐसा लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दो में अधिक अच्छा क्या है, मुझे निश्चयपूर्वक कहिए, तो कुछ शान्ति मिले।"

यह सुन भगवान् बोले :—"संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम

कर्म, ये दोनों अच्छे हैं। पर यदि मुझे चुनना ही पड़े, तो मैं कहूँगा कि योग अर्थात् अनासक्ति-पूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य न किसी का द्वेष करता है, न किसी प्रकार की इच्छा रखता है, और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी वगैरा द्वन्दों से अलग रहता है, वह संन्यासी ही है, फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज ही बंधन-मुक्त होता है। अज्ञानी ज्ञान और योग को भिन्न मानते हैं। ज्ञानी ऐसा नहीं मानते। दोनों से एक ही परिणाम निकलता है। अर्थात् दोनों से वही स्थान (पद) मिलता है। इसलिए जो दोनों को एकरूप समझता है, वही सच्चा जानने वाला है। क्योंकि जिसे शुद्ध ज्ञान है, वह संकल्प-मात्र से कार्य-सिद्धि पाता है, अर्थात् बाह्य कर्म करने की उसे ज़रूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जलती थी, तब दूसरों का धर्म

आग बुझाने जाने का था। जनक के संकल्प ही से आग बुझाने में मदद मिलती थी, क्योंकि इस कार्य में सेवक उनके अधीन थे। यदि वह पानी का घड़ा लेकर दौड़ते, तो पूरी-पूरी हानि होती ; दूसरे उनका मुँह देखा करते, अपना कर्त्तव्य भूल जाते, और भले होते तो हक्के-बक्के होकर जनक की रक्षा करने दौड़ पड़ते। पर सब जल्दी ही जनक नहीं बन सकते। जनक की स्थिति बहुत दुर्लभ है। करोड़ों में से एक को कई जन्मों की सेवा से वह प्राप्त हो सकती है। इसके प्राप्त होने से कोई विशेष शान्ति मिलती हो, सो भी नहीं। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करने से मनुष्य का ंकल्प-बल बढ़ता जाता है, और बाह्य कर्म घटते जाते हैं ; और सच पूछो तो कह सकते हैं कि इसका उसे पता भी नहीं चलता। वह इसके लिए प्रयत्न भी नहीं करता। वह तो सेवा-कार्य में

ही निमग्न रहता है। और, ऐसे रहते हुए उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ती है, कि वह सेवा से थकता नज़र ही नहीं आता। इससे आख़िरकार उसके संकल्प में ही सेवा समा जाती है, उस अत्यन्त गतिमान् वस्तु की तरह, जो स्थिर-सी प्रतीत होती है। ऐसे मनुष्य के लिए यह कहना स्पष्ट ही अनुचित है, कि वह कुछ नहीं करता। पर साधारणतया ऐसी स्थिति की कल्पना ही की जा सकती है, अनुभव नहीं। इसी कारण मैंने कर्मयोग को विशेष कहा है। करोड़ों लोग निष्काम कर्म ही से संन्यास का फल पाते हैं। यदि वे संन्यासी बनने जायँ, तो दोनों दीन से जायँ। संन्यासी बनने के प्रयत्न में मिथ्याचारी बनने की पूरी सम्भावना है, और कर्म से तो गिरते ही हैं, जिससे सर्वनाश होता है। पर जो मनुष्य अनासक्ति-पूर्वक कर्म करता हुआ

शुद्ध बनता है, जिसने अपने मन को जीता है, जिसने अपनी इन्द्रियों को क़ाबू में रक्खा है, जिसने सब जीवों के साथ अपना ऐक्य साधा है, जो सब को अपने ही समान मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बन्धन में नहीं फँसता। ऐसा मनुष्य बोलने-चालने आदि की क्रियायें करता हुआ भी, ऐसा मालूम होता है, मानों उसकी क्रियायें, इन्द्रियाँ अपने धर्मानुसार करती हैं। वह स्वयं कुछ नहीं करता शरीर से नीरोग और स्वस्थ मनुष्य की क्रियायें स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अंग अपने आप काम करते हैं। उसे उस ओर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार जिसकी आत्मा आरोग्यवान् है, वह शरीर में रहते हुए भी अलिप्त है। यह कह सकते हैं, कि वह कुछ भी नहीं करती। इसलिए मनुष्य को सब कर्म ब्रह्मार्पण करने चाहिएँ, ब्रह्म के

निमित्त करने चाहिएँ। इससे कर्म करता हुआ भी वह पाप-पुण्य के वश नहीं रहेगा—पानी में कमल की तरह कोरे-का-कोरा या सूखा ही रहेगा।

[मंगल प्रभात

अर्थात् जिसने अनासक्ति सीखी है, वह योगी काया से, मन से, बुद्धि से, कार्य करता हुआ भी, संग-रहित होकर, अहंभाव छोड़कर बरतता और शुद्ध बनता है, शान्ति पाता है। दूसरा अ-योगी परिणाम में आसक्त रहने से क़ैदी की तरह अपनी कामनाओं से बँधा रहता है। इस नौ दरवाज़ों वाले देहरूपी नगर में सब कर्मों का मन से त्याग करके वह स्वयं कुछ नहीं करता-कराता। इस भाँति योगी सुख से रहता है। संस्कारी, संशुद्ध आत्मा न पाप करती है, न पुण्य। जिसने कर्म में से आसक्ति को हटा लिया है, अहंभाव का नाश किया है, फल

का त्याग किया है, वह जड़वत् होकर काम करता है, निमित्त-मात्र बनता है; उसे पाप-पुण्य का स्पर्श कैसे हो सकता है ? इसके विपरीत जो अज्ञान में फँसे पड़े हैं, वे रोज गिनती करते हैं; इतना पुण्य किया, इतना पाप किया; ऐसा करते हुए वे रोज गड्ढे में गिरते जाते हैं। और, आखिर उनके हिस्से पाप ही रह जाता है। पर जो ज्ञान-द्वारा प्रति दिन अपने अज्ञान का नाश करता जाता है, उसके कार्य में दिनों-दिन निर्मलता बढ़ती जाती है। जगत् उसके कर्मों में पूर्णता और पुण्यता देखता है। ऐसे मनुष्य के सब कर्म स्वाभाविक पाये जाते हैं। ऐसा मनुष्य समदर्शी होता है। उसकी दृष्टि में विद्या और विनयवाला और ब्रह्म को जाननेवाला ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन पशु से भी बदतर, गया-बीता मनुष्य आदि सब समान हैं; अर्थात् वह इन सबको

समान भाव से सेवा करेगा। एक को बड़ा मानकर उसकी इज़्ज़त और दूसरे को तुच्छ समझकर उसकी अवगणना न करेगा। अनासक्त अपने को सबका क़र्ज़दार मानेगा, सब का क़र्ज़ चुकायेगा और पूर्ण न्याय करेगा। ऐसे मनुष्य ने यहीं जगत् को जीत लिया है, और वह ब्रह्ममय है। कोई उसका भला करे, तो खुश नहीं होता, कोई गाली दे तो रंज नहीं करता। आसक्तिवाला बाहर से अपने लिए सुख खोजता है। अनासक्त को निरन्तर अन्तर में से शान्ति मिलती है, क्योंकि उसने बाहर से जीव को हटा लिया है। इन्द्रिय-जन्य भोग-मात्र दुःख के कारण हैं। मनुष्य को काम-क्रोध इत्यादि से होनेवाले उपद्रव सह लेना उचित है। अनासक्त योगी समस्त प्राणियों के हित में ही लगे रहते हैं। वे शंकाओं से पीड़ित नहीं रहते। ऐसा योगी बाह्य-जगत् से निराला रहता

है। प्राणायामादि के प्रयोग करके अन्तर्ध्यान बनने को छटपटाता है और इच्छा, भय, क्रोध आदि से दूर रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्र और यज्ञादि का भोक्ता-स्वरूप जानता है, और शान्ति प्राप्त करता है।"

[यरवडा-मन्दिर, ८,९-१२-३०

: ६ :

ध्यानयोग

[मंगल प्रभात

श्री भगवान् कहते हैं—"कर्मफल को छोड़कर जो मनुष्य कर्त्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी भी कहलाता है और योगी भी। जो क्रियामात्र का त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। सच बात तो मन के घोड़े दौड़ाने का काम छोड़ने की है। जो योग अर्थात् समत्व साधना चाहता है, बिना कर्म के उसका काम चलता ही नहीं। जिसे समत्त्व प्राप्त हुआ है, वह शान्त दीख पड़ेगा, अर्थात् उसके विचारमात्र में कर्म का बल प्राप्त हो जाता है।

जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और मन की तमाम तरंगों को छोड़ देता है, तब यह कहा जाता है कि उसने योग साधा है,—वह योगारूढ़ बना है।

आत्मा का उद्धार आत्मा-द्वारा ही होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि (वह) स्वयं ही अपना शत्रु बनता है, या मित्र बनता है। जिसने मन को जीता है, आत्मा उसका मित्र बनता है; जिसने मन को नहीं जीता, आत्मा उसका शत्रु है। जिसने मन को जीता है, उसकी पहचान यह है कि उसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान, सब एक समान होते हैं। जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई है, और जिसे सोना, मिट्टी या पत्थर सब समान हैं, वह योगी है। ऐसा मनुष्य शत्रु-मित्र, साधु-असाधु आदि के प्रति समभाव रखता है। इस स्थिति को पहुं-

चने के लिए मन स्थिर करना चाहिए, वासनाओं का त्याग करना चाहिए, और एकान्त में बैठ कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। केवल आसनादि करना ही बस नहीं। समत्व को पहुंचने की इच्छावाले को ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का भली-भाँति पालन करना चाहिए। यों, आसनबद्ध होकर यम-नियमों का पालन करनेवाला मनुष्य जब अपना मन परमात्मा में स्थिर करता है, तो उसे परम-शान्ति मिलती है।

यह समत्व अघोरी की तरह खानेवाले को तो कभी नहीं मिलता। पर निरा उपवास करनेवाले को भी नहीं मिलता; न बहुत सोनेवाले को मिलता है, न जागरण करनेवाले को ही। समत्व पाने के इच्छुक को तो सब में, खाने में, पीने में, सोने में, जागने में भी नियम का ध्यान रखना चाहिए। एक दिन खूब खाना और दूसरे दिन उपवास करना, एक दिन खूब

सोकर दूसरे दिन जागरण करना, एक दिन खूब काम करके, दूसरा दिन आलस में बिताना, यह योग की निशानी ही नहीं है। योगी तो सदा स्थिर-चित्त होता है और कामना-मात्र का स्वभाव से त्याग किये हुए रहता है। ऐसे योगी की स्थिति वायु-हीन स्थान में दीपक जैसे स्थिर रहता है, वैसे ही (स्थिर) होती है। उसे जगत् के मञ्च पर होनेवाले खेल या उसके मन में चक्कर काटनेवाली विचार-तरंगें इधर-उधर झकझोर नहीं सकतीं, डिगा नहीं सकतीं। यह योग धीरे-धीरे, पर दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने से साधा जा सकता है। मन चञ्चल है, इसलिए वह इधर-उधर दौड़ता है। उसे धीरे-धीरे स्थिर करना उचित है। वह स्थिर हो, तभी शान्ति मिले। मन को इस प्रकार स्थिर करने के लिए निरन्तर आत्म-चिन्तन करना चाहिए। ऐसा मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता

है, और अपने को सबमें देखता है। क्योंकि वह मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझ में लीन हुआ है, वह मुझे सर्वत्र देखता है। वह 'आप' मिट चुका है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी वह मुझ में ही तल्लीन रहता है। इसलिए उसके हाथों न करने योग्य कोई भी काम कभी होगा ही नहीं।"

अर्जुन को यह योग कठिन प्रतीत हुआ और वह बोल उठा—"यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो? मन तो बन्दर की भांति है। अगर हवा दबाई जा सकती है, तो मन भी दबाया जा सकता है। ऐसा यह मन कैसे और कब काबू में आवेगा।"

भगवान ने जवाब में कहा—"तू जो कहता है, वह सच है। पर रागद्वेष को जीतने से और प्रयत्न करने से कठिन भी सरल बनाया

जा सकता है। मन को जीते बिना योग नहीं सध सकता, इसमें शक नहीं।"

इसपर अर्जुन फिर पूछता है—"मान लीजिए कि मनुष्य में श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मन्द है, इसलिए वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्य की क्या गति होती है? बिखरे हुए बादलों की तरह उसका नाश तो नहीं होता?"

भगवान् ने कहा—"ऐसे श्रद्धालु का नाश होता ही नहीं। कल्याण मार्ग पर चलने वालों की अधोगति कभी नहीं होती। ऐसा मनुष्य मृत्यु के बाद कर्मानुसार पुण्य-लोक में रहकर पुनः पृथ्वी पर आता है और पवित्र घर में जन्म लेता है। इस लोक में ऐसा जन्म दुर्लभ है। उस घर में उसके पूर्व के शुभ संस्कारों का उदय होता है। इस बार का उसका प्रयत्न तीव्र बनता है, और अन्त में वह सिद्धि पाता

है। इस प्रकार प्रयत्न करते हुए कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मों के बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्न के बल के अनुसार समत्त्व पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकाण्ड की क्रिया, इन सबसे समत्त्व अधिक है; क्योंकि तप आदि का परिणाम भी तो आख़िर समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समता प्राप्त कर और योगी बन। इनमें भी जो अपना सवस्व मुझे अर्पण कर देते हैं और श्रद्धा पूर्वक मेरी ही आराधना करते हैं, उन्हें तू श्रेष्ठ समझ।"

[इस अध्याय में प्राणायाम आसन आदि की स्तुति है। पर याद रहे कि इनके साथ ही ब्रह्मचर्य की अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के लिए यमनियम आदि के पालन की आवश्यकता भी भगवान् ने बताई है। यह समझ लेना जरूरी है कि अकेले आसनादि की क्रिया से समत्वप्राप्ति नहीं होती। आसन,

प्राणायाम आदि मन को स्थिर करने में, एकाग्र बनाने में थोड़ी मदद करते हैं, यदि इस हेतु से ये क्रियायें की जायँ तो। अन्यथा इसे भी एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम समझ कर अन्य व्यायामों की भांति ही इसका मूल्य आंकना चाहिए। शारीरिक व्यायाम के रूप में प्राणायामादि बहुत उपयोगी हैं, और मैं मानता हूँ कि व्यायामों में यह व्यायाम सात्विक है। शारीरिक दृष्टि से यह अभ्यास करने योग्य है। परन्तु सिद्धियाँ प्राप्त करने और चमत्कार देखने के लिए ये क्रियायें की जाती हैं। मैंने देखा है कि इससे लाभ के बदले हानि ही होती है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय के उपसंहाररूप में समझने योग्य है और प्रयत्नशील को आश्वासन देता है। हम हार कर समता पाने के प्रयत्न को कभी न छोड़ें।]

[यरवड़ा-मन्दिर, १६-१२-३०

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

[मंगल प्रभात

भगवान् बोले—हे राजन, मुझमें मन लगाकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोग का आचरण करनेवाला मनुष्य निश्चय-पूर्वक सम्पूर्ण रूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है, यह मैं तुझे कहूँगा। यह अनुभवयुक्त ज्ञान मैं तुझे कहूँगा, उसके बाद और कुछ भी जानने को बाकी न रहेगा। हज़ारों में बिरले ही इसे पाने का प्रयत्न करते हैं और प्रयत्न करने वालों में बिरले ही सफल होते हैं।

पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु और

मन, बुद्धि और 'अहं भाव', ऐसी आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति कहलाती और दूसरी परा प्रकृति है। यह जीवरूप है। इन दो प्रकृतियों से, अर्थात् देह और जीव के सम्बन्ध से सारा जगत् बना है। इसलिए सबकी उत्पत्ति और नाश का कारण मैं हूँ। जिस प्रकार माला के आधार पर उसके मनके रहते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मेरे आधार पर टिका हुआ है। अर्थात् पानी में रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र का तेज मैं हूँ, वेदों का ओंकार मैं हूँ, आकाश की आवाज मैं हूँ, पुरुषों का पराक्रम हूँ, मिट्टी की सुगन्ध हूँ, अग्नि का तेज हूँ, प्राणिमात्र का जीवन हूँ, तपस्वी का तप हूँ, बुद्धिमान की बुद्धि हूं, बलवान का शुद्ध बल हूं, जीवमात्र में विद्यमान धर्म की अविरोधिनी कामना मैं हूं, संक्षेप में, सत्त्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले जो-जो भाव हैं, उन

सबको मुझसे ही उत्पन्न हुए जान। और, ये सब मेरे आधार पर ही रह सकते हैं। इन तीन भावों या गुणों में आसक्त रहनेवाले लोग मुझ अविनाशी को पहचान नहीं सकते, ऐसी यह मेरी त्रिगुणात्मक माया है; इससे पार हो जाना कठिन है। पर जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को, अर्थात् तीन गुणों को पार कर सकते हैं।

परन्तु जिनके आचार-विचार का ठिकाना नहीं है, वे मूढ़ लोग मेरी शरण क्यों लेने लगे? वे तो माया में पड़े रहकर अन्धेरे में ही भटका करते हैं, और ज्ञान नहीं पाते। परन्तु अच्छे आचार वाले मुझे भजते हैं। इनमें से कोई अपना दुःख मिटाने को मेरा भजन करते हैं और कोई मुझे पहचानने की इच्छा से भजते हैं। कोई कुछ पाजाने की इच्छा से भजते हैं, और कोई कर्त्तव्य समझ कर ज्ञान-

पूर्वक मेरा भजन करते हैं। मेरा भजन करना अर्थात् मेरे जगत् की सेवा करना है। इनमें कोई दुःख के मारे, कोई किसी लाभ की आशा से, कोई यह समझ कर कि चलो देखें तो, क्या होता है, सेवा करते हैं, और कोई ज्ञान पूर्वक, उसके बिना रह ही नहीं सकते, इसलिए, सेवा-परायण रहते हैं। ये आखिर-वाले मेरे ज्ञानी भक्त हैं, और सबसे अधिक प्रिय हैं, या यों कहो कि ये मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं, और (मेरे) नज़दीक-से-नज़दीक हैं। मनुष्य को यह ज्ञान अनेक जन्मों के बाद ही प्राप्त होता है; और प्राप्ति के बाद वह इस जगत् में मुझ वासुदेव के सिवा और कुछ देखता ही नहीं। पर जो कामना वाले हैं, वे तो जुदा-जुदा देवताओं को भजते हैं, और जैसी जिसकी भक्ति है, तदनुसार फल देने-वाला तो मैं ही हूं। ऐसी कम समझवालों को

जो फल मिलता है, वह भी ऐसा ही कम होता है, और उन्हें सन्तोष भी उतने में ही जाता है। अपनी अल्प-बुद्धि के कारण ऐसे लोग यह मानते हैं कि वे इन्द्रियों-द्वारा मुझे पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इन्द्रियों से परे है और हाथ, कान, नाक, आँख आदि द्वारा नहीं पहचाना जा सकता। इस प्रकार सब वस्तुओं का पैदा करनेवाला होते हुए भी अज्ञानी लोग मुझे नहीं पहचान सकते। मेरी इस योगमाया को तू जान ले। राग-द्वेष के कारण सुख-दुःखादि हुआ ही करते हैं, और इसीसे जगत् मूर्छा में, मोह में, रहता है। पर जो इससे छूटे हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल बने हैं, वे तो अपने व्रत में निश्चल रहकर निरन्तर मुझे ही भजते हैं। वे मेरे पूर्ण ब्रह्मरूप को, सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रतीत

होनेवाले जीवरूप में विद्यमान मुझे, और मेरे कर्म को जानते हैं। इस प्रकार जो मुझे अधि-भूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप में जानते हैं और फलतः समत्त्व को प्राप्त हुए हैं, वे मृत्यु के बाद जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होते हैं; क्योंकि इतना जान चुकने पर उनका मन अन्यत्र भटकता नहीं, और सारे जगत् को ईश्वरमय देखकर वे ईश्वर में ही समा जाते हैं।

[यरवड़ा-मन्दिर २३-१२-३०

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

[सोम प्रभात

अर्जुन पूछता है—"आप पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ के नाम कह गये, पर इन सबका अर्थ मैं नहीं समझता। साथ ही आप कहते हैं, आपको अधिभूतादि रूप में जाननेवाले समत्व को पाये हुए (लोग) मृत्यु के समय आपको पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइए।

भगवान् ने जवाब दिया—जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है; और प्राणी-मात्र में कर्त्ता-भोक्ता-रूप से जो देह धारण किये

हुए है, वह अध्यात्म है। प्राणीमात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है, उसका नाम कर्म है। अर्थात्, यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रिया से उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। अधिभूत, अर्थात् मेरा नाशवान देहस्वरूप और अधियज्ञ, अर्थात् यज्ञ-द्वारा शुद्ध बना हुआ उक्त अध्यात्म-स्वरूप। इस प्रकार देहरूप में, मूर्छित जीव-रूप में, शुद्ध जीवरूप में और पूर्णब्रह्मरूप में, सर्वत्र मैं ही हूँ। और, ऐसा जो मैं हूँ, उसका जो मरते समय ध्यान धरता है, अपने को भूल जाता है, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह मेरे स्वरूप को पाता ही है। इसे निश्चय समझना। मनुष्य जिस स्वरूप का नित्य ध्यान करता है, अन्तकाल में भी उसीका ध्यान रहे, तो वह उस स्वरूप को पाता है। और, इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण किया करना, मुझ में ही मन और बुद्धि

को पिरोये रखना, तो मुझे ही पायेगा। पर तू यह कहेगा कि इस प्रकार चित्त स्थिर नहीं होता, तो याद रख कि रोज़ के अभ्यास से, प्रति दिन के प्रयत्न से, ऐसी एकाग्रता मिलती ही है। क्योंकि अभी-अभी ही तुझ से कहा है कि देहधारी भी, मूल का विचार करें, तो मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्य को पहले ही से तैयारी करनी चाहिए, जिससे मरते समय मन अस्थिर न होवे, भक्ति में लीन रहे, प्राण स्थिर रक्खे, और सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबका पालन करने की शक्ति रखने वाले, जिसका चिन्तन करते हुए भी जो शीघ्र पहचाना नहीं जा सकता, ऐसे सूर्य के समान अन्धकार और अज्ञान को मिटाने वाले परमात्मा का ही स्मरण करे।

इस परमपद को वेद अक्षर ब्रह्म के नाम से पहचानते हैं। राग-द्वेषादि का त्याग करने-

वाले मुनि इसे पाते हैं। और इस पद को पाने की इच्छा रखनेवाले सब ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, अर्थात् शरीर, मन, और वाणी को अंकुश में रखते हैं। विषयमात्र का तीनों प्रकार से त्याग करते हैं। इन्द्रियों को समेटकर, 'ॐ' का उच्चारण करते हुए, मेरा ही चिन्तन करते-करते जो स्त्री-पुरुष देह छोड़ते हैं, वे परमपद पाते हैं। ऐसों का चित्त और कहीं भटकता ही नहीं। और इस प्रकार मुझे पानेवाले को फिर से वह जन्म पाने की ज़रूरत नहीं रहती, जो दुःख का घर है। इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का उपाय मुझे पाना ही है।

मनुष्य अपने सौ वर्ष के जीवन-काल से काल का माप निकालता है और उतने समय में हज़ारों जाल बिछाता है। पर काल तो अनन्त है। यह समझ कि हज़ारों युग यानी ब्रह्मा का एक दिन है। अतएव मनुष्य के एक दिन या

सौ वर्ष की क्या बिसात ? इतने अल्पकाल की गिनती लगा कर व्यर्थ की हाय-हाय क्यों की जाय ? इस अनन्त काल-चक्र में मनुष्य का जीवन क्षणमात्र-सा है। इस इतने-से समय में ईश्वर का ध्यान करने में ही इसकी शोभा है। क्षणिक भोगों के पीछे वह क्यों दौड़ ? ब्रह्मा के रात-दिन में उत्पत्ति और नाश होते ही रहते हैं और होते ही रहेंगे।

उत्पत्ति-लय करनेवाला यह ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है, और यह अव्यक्त है। इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। इससे भी परे मेरा एक दूसरा अव्यक्त स्वरूप है। उसका कुछ वर्णन मैंने तेरे सामने किया है। उसे जो पाता है, उसका जन्म-मरण छूट जाता है, क्योंकि उस स्वरूप को दिन-रात आदि द्वन्द्व नहीं होते, वह केवल शान्त, अचल स्वरूप है। उसके दर्शन अनन्य भक्ति से ही हो सकते हैं।

उसी के आधार पर सारा जगत् टिका हुआ है। और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

यह कहा जाता है कि उत्तरायण के उजेले पखवाड़े के दिनों में जो मरता है, वह ऊपर बताये अनुसार स्मरण करते हुए मुझे पाता है; और दक्षिणायण के कृष्णपक्ष की रात में मरनेवाले के पुनर्जन्म के फेरे बाक़ी रहते हैं। इसका यह अर्थ किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्ल-पक्ष निष्काम सेवा-मार्ग है, और दक्षिणायण और कृष्णपक्ष, स्वार्थ-मार्ग। सेवा-मार्ग से मुक्ति और स्वार्थ-मार्ग से बन्धन प्राप्त होता है। सेवा-मार्ग ज्ञान-मार्ग है, और स्वार्थ-मार्ग अज्ञान-मार्ग। ज्ञान-मार्ग पर चलनेवाले के लिए मोक्ष है, अज्ञान-मार्ग से जानेवाले के लिए बन्धन। इन दो मार्गों को जान चुकने के बाद मोह में फँस कर अज्ञान-मार्ग को कौन पसन्द करेगा? इतना जान चुकने पर मनुष्य-

मात्र को समस्त पुण्य-फल छोड़ कर, अना-सक्त रह कर, कर्त्तव्य में ही परायण बनकर, मेरे बताये हुए उत्तम स्थान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

[यरवड़ा-मन्दिर ता० २९-१२-३०

: ९ :

राजविद्याराजगुह्ययोग

[सोम प्रभात

पिछले अध्याय के अन्तिम श्लोक में योगी का उच्चस्थान बताया, अतएव अब भगवान् की भक्ति की महिमा बतानी ही रही। क्योंकि गीता का योगी शुष्कज्ञानी नहीं, बाह्याचारी भक्त भी नहीं, गीता का योगी तो ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। इसलिए भगवान् कहते हैं—तुझमें द्वेष नहीं है, इसलिए मैं तुझे गुह्यज्ञान बताता हूँ, जिसे पाकर तेरा कल्याण हो। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आसानी के साथ इसका आचरण किया जा सकता है। इसमें

जिसे श्रद्धा न हो, वह मुझे नहीं पा सकता। मनुष्य-प्राणी इन्द्रियों-द्वारा मेरा स्वरूप पहचान नहीं सकते; तथापि इस जगत् में वह व्याप्त है और जगत् उसके आधार पर टिका हुआ है। वह जगत् के आधार पर नहीं। और, एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि ये प्राणी मुझ में नहीं और मैं उनमें नहीं, यद्यपि उनकी उत्पत्ति का कारण मैं हूँ और उनका पोषणकर्त्ता हूँ। वे मुझमें नहीं और मैं उनमें नहीं, क्योंकि वे अज्ञान में रहकर मुझे जानते नहीं। उनमें भक्ति नहीं। इसे तू मेरा चमत्कार समझ।

पर यह भास होते हुए भी कि मैं प्राणियों में नहीं हूँ, वायु की भाँति मैं सर्वत्र छाया हुआ हूँ। और, सब जीव युग का अन्त होते ही लय पाते हैं और आरम्भ होते ही पुनः जन्म लेते हैं। इन कर्मों का कर्ता मैं हूं, तो भी ये मेरे

लिए बन्धन-कारक नहीं, क्योंकि इनमें मुझे आसक्ति नहीं। इनके विषय में मैं उदासीन हूँ। ये कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है—मेरा स्वभाव है। पर मेरे इस रूप को लोग पहचानते नहीं, इसीसे नास्तिक रहते हैं। मेरी हस्ती ही से इनकार करते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ की आशा के महल खड़े करते हैं, उनके काम भी निकम्मे होते हैं और वे अज्ञान से भरपूर रहते हैं, इसलिए आसुरीवृत्तिवाले कहलाते हैं। पर जो दैवीवृत्तिवाले हैं, वे मुझे अविनाशी और सिरजनहार समझकर मेरा भजन करते हैं। उनके निश्चय दृढ़ होते हैं। वे नित्य प्रयत्न-शील रहते हैं। मेरा भजन-कीर्तन करते हैं, और मेरा ध्यान धरते हैं। और कुछ तो यह माननेवाले हैं, कि मैं एक ही हूँ। कुछ मुझे बहुरूप मानते हैं। मेरे अनन्त गुण हैं; इसलिए बहुरूप में माननेवाले भिन्न-भिन्न गुणों को

भिन्न रूप से देखते हैं। पर इन सब को भक्त समझ।

यज्ञ का संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरों का आधार मैं, यज्ञ की वनस्पति मैं, मन्त्र मैं, आहुति मैं, हवन में डाला जानेवाला द्रव्य मैं, अग्नि मैं, इस जगत् का पिता मैं, माता मैं, जगत् को धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मन्त्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, और सत् और असत् भी मैं।

जो वेदों में वर्णित क्रियायें करते हैं, वे फल-प्राप्ति के लिए करते हैं। अतएव वे भले ही स्वर्ग पावें, पर उनके लिए जन्म-मरण के चक्कर तो बाकी रहतेही हैं। परन्तु जो एक ही भाव से मेरा चिन्तन किया करते हैं, और

मुझे ही भजते हैं, उनका सब बोझा मैं उठाता हूं। उनकी ज़रूरतें मैं पूरी करता हूं। और मैं ही उन्हें बनाये-सम्हाले रखता हूं। दूसरे कुछ लोग अन्य देवताओं में श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं, इसमें अज्ञान है, तो भी आखिर वे मेरा ही भजन करनेवाले माने जाते हैं। क्योंकि यज्ञमात्र का स्वामी मैं हूं। पर बग़ैर मेरी इस व्यापकता को समझे वे अन्तिम स्थिति को नहीं पहुंच सकते। देवों को पूजनेवाले देवलोक पाते हैं, पितरों के पूजक पितृलोक और भूत प्रेतादि के पूजनेवाले उस लोक को पाते हैं, और ज्ञान-पूर्वक मेरा भजन करनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्ता भी भक्ति-पूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्न-शील लोगों की भक्ति को मैं स्वीकार करता हूं। इसलिए तू जो-कुछ भी करे, मुझे अर्पण करके ही करना। इससे शुभाशुभ फल की जिम्मेदारी तेरी न

रहेगी। तूने तो फलमात्र का त्याग किया है, इस कारण तेरे लिए जन्म-मरण के फेरे नहीं रहे। मेरे मत से सब प्राणी समान हैं—एक प्रिय और दूसरा अप्रिय ऐसा नहीं है। पर जो भक्ति-पूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ। इसमें पक्षपात नहीं, पर वे अपनी भक्ति का फल पाते हैं। इस भक्ति का चमत्कार ऐसा है कि जो मुझे एक भाव से भजता है, वह दुराचारी हो, तो भी साधु बन जाता है। सूर्य के सामने जिस प्रकार अँधेरा नहीं टिकता, उसी प्रकार मेरे पास आते ही मनुष्य के दुराचार का नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाश पाते ही नहीं, वे तो धर्मात्मा बनते और शान्ति भोगते हैं। इस भक्ति की महिमा ऐसी है, कि जो पाप-योनि में जन्मे हुए माने जाते हैं, और अनपढ़ स्त्रियाँ, वैश्य, और शूद्र, जो मेरा

आश्रय लेते हैं, वे मुझे पाते ही हैं। तो फिर पुण्य कर्म करने वाले ब्राह्मण-क्षत्रियों का तो कहना ही क्या? जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू असार संसार में जन्मा है, तो मुझे भजकर उससे पार हो जा। अपना मन मुझ में पिरो दे। मेरा ही भक्त रह। अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर। अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुंचा। इस प्रकार तू मुझ में परायण होगा और अपनी आत्मा को मुझ में होमकर शून्यवत् हो जायगा, तो तू मुझे ही पावेगा।

[मंगल प्रभात

[इससे हम देखते हैं कि भक्ति का अर्थ ईश्वर में आसक्ति है। अनासक्ति सीखने का भी यह आसान-से-आसान उपाय है। इसलिए अध्याय के आरम्भ में प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है

और सरल मार्ग है। हृदय में बसे तो सरल, न बसे तो विकट है। इसीलिए इसे 'सिरका सौदा' भी कहा है। पर यह तो 'देखनारा दाझे जोने, मांहि पड्या ते महा सुख माणे'—अर्थात् (बाहर से) देखनेवाले जलते हैं, जो भीतर पड़े हैं, वे महासुख मानते हैं। कवि कहता कि सुधन्वा खौलते हुए तैल के कढ़ाव में हंसते थे, और बाहर खड़े हुए (लोग) काँप रहे थे। कहा जाता है कि जब नन्द अंत्यज की अग्नि-परीक्षा की गई, तब वह आग पर नाचता था। यह सब इन व्यक्तियों के जीवन में संघटित हुआ था या नहीं, इसकी जाँच करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। जो किसी भी वस्तु में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति हो जाती है। वह आपा भूल जाता है। पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा?

'साकर शेलडीनो स्वाद तजीने कड़वो लीमडो घोल मा।
'चांदा सूरजनु' तेज तजीने आगिया संघाते

चित्त जोड़ गा।'—अर्थात्, शकर और गन्ने का स्वाद छोड़कर कड़ुई नीम मत घोल; सूर्य-चन्द्र क तेज छोड़कर जुगनू में अपना मन मत लगा। इस प्रकार नवाँ अध्याय बताता है कि प्रभु में आसक्ति अर्थात् भक्ति के बिना फल की अनासक्ति असम्भव है। अन्तिम श्लोक सारे अध्याय का निचोड़ है। और हमारी भाषा में उसका अर्थ है—'तू मुझ में समा जा']

[यरवड़ा मन्दिर ता० ६—७—३१

: १० :

विभूतियोग

[सोम प्रभात

भगवान् कहते हैं—"पुनः भक्तों के हित के लिए कहता हूँ, सो सुन। देव और महर्षि तक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते, क्योंकि मुझे उत्पन्न होने की आवश्यकता ही नहीं है। मैं उनकी और दूसरे सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्म और अनादि रूप में पहचानते हैं, वे सब पापों से मुक्त होते हैं। क्योंकि परमेश्वर को इस रूप में जानने के बाद, और अपने को उसकी प्रजा या उसके अंश रूप में पहचानने के पश्चात्, मनुष्य की पापवृत्ति रही

नहीं सकती । पापवृत्ति का मूल ही अपने सम्बन्ध का अज्ञान है ।

जिस प्रकार प्राणी मुझ से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उनके भिन्न-भिन्न भाव, जैसे क्षमा, सत्य, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय, वग़ैरा भी मुझमें ही उत्पन्न होते हैं । इन सबको मेरी विभूति समझनेवालों में सहज ही समता उत्पन्न होती है, क्योंकि वे अहंता छोड़ देते हैं । और उनका चित्त मुझ में ही लगा हुआ रहता है; वे मुझे अपना सब-कुछ अर्पण करते हैं, एक दूसरे से मेरे विषय में ही बात-चीत करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष और आनन्द से रहते हैं । इस प्रकार जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं ।

इसपर अर्जुन ने स्तुति की—आप ही

परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको देव, अजन्म, ईश्वर-रूप में भजते हैं; स्वयं आपका यह कथन है। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई नहीं जानता! आप ही अपने को जानते हैं! अब अपनी विभूतियाँ मुझे बताइए और बताइए कि आपका चिन्तन करते हुए मैं किस रीति से आपको पहचान सकता हूँ।

भगवान् ने उत्तर दिया—मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं। उनमें से कुछ मुख्य तुझे बताता हूँ। मैं सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाला हूँ, मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य, और उनका अन्त हूँ। आदित्यों में विष्णु, उज्ज्वल वस्तुओं में प्रकाशवान् सूर्य, वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र, वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों की चेतनशक्ति, रुद्रों में शंकर, यक्ष-राक्षसों में कुबेर, दैत्यों में प्रह्लाद, पशुओं

में सिंह, पक्षियों में गरुड़ मैं, और छल करने-वाले का द्यूत भी मैं ही हूँ। इस जगत् में जो-कुछ होता है, वह मेरी आज्ञा के बिना हो ही नहीं सकता। भला-बुरा भी मैं ही होने देता हूँ, तभी होता है। यह जानकर मनुष्य को अभिमान छोड़ना चाहिए और बुराई से बचना चाहिए। क्योंकि अच्छे बुरे का फल देनेवाला भी मैं हूँ। तू यह जान ले कि यह सारा जगत् मेरी विभूति के एक अंश-मात्र से टिका हुआ है।"

[यरवड़ा-मन्दिर १२-१-३१

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

[सोम प्रभात

अर्जुन ने विनती की—"हे भगवन् आपने मुझे आत्मा के बारे में जो बात कही है, उससे मेरा मोह दूर हुआ है। आप ही सब कुछ हैं, आप ही कर्त्ता हैं, आप ही संहर्त्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि सम्भव हो तो अपने ईश्वरीय रूप का दर्शन मुझे कराइए।"

भगवान् बोले—"मेरे रूप हज़ारों हैं और अनेक रङ्गवाले हैं। उनमें आदित्य, वसु, रुद्र वग़ैरा समाये हुए हैं। मुझमें सारा जगत्—चर और अचर—समाया हुआ है।

इस रूप को तू अपने चर्म-चक्षु से नहीं देख सकता। इसलिए मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ। उनके द्वारा इसे देख।"

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा – "हे राजन्! इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन से कह कर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम तो रोज़ एक सूर्य देखते हैं, पर मान लीजिए कि हज़ारों सूर्य रोज़ उगते हैं, तो उनका जैसा तेज होगा उसकी अपेक्षा भी यह तेज अधिक चौंधियाने वाला था। उसके आभूषण और शस्त्र भी वैसे ही दिव्य थे। उसका दर्शन करके अर्जुन के रोंगटे खड़े होगये, उसका सिर घूमने लगा और वह काँपते-काँपते स्तुति करने लगा :—

'हे देव! आपकी इस विशाल देह में मैं तो सब-कुछ और सब-किसी को देखता हूँ।

ब्रह्मा इसमें हैं, महादेव इसमें हैं, ऋषि इसमें हैं, सर्प इसमें हैं। आपके हाथ मुँह गिने नहीं जाते। आपका न आदि है, न अन्त है, न मध्य। आपका रूप तो मानों तेज का पहाड़ है—देखते ही आँखें चौंधिया जाती हैं। धधकती हुई आग की तरह, जगमगा रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत् के आधार हैं, आप ही पुराण पुरुष हैं, आप ही धर्म के रक्षक हैं। जिधर नज़र फेरता हूं, आपके अवयव ही दिखाई पड़ते हैं। सूर्य-चन्द्र तो ऐसे ही मालूम होते हैं, मानों आपकी आँखें हों। आप ही इस पृथ्वी और आकाश में व्याप्त हैं। आपका तेज सारे जगत् को तपाता है। यह जगत् थर्रा रहा है, काँप रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध वग़ैरा सब हाथ जोड़ कर काँपते-काँपते आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट्रूप और इस तेज को देखकर मैं तो व्याकुल हो गया

हूँ। शान्ति और धैर्य नहीं रहा। हे देव! प्रसन्न हूजिए। आपकी डाढ़ें विकराल हैं। आपके मुंह में दीपक पर पतङ्गों की तरह इन लोगों को मैं पड़ते देखता हूँ। आप इन्हें चूर-चूर कर रहे हैं। यह उग्रस्वरूप आप कौन हैं? आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं समझ सकता।

भगवान् बोले—'लोगों का नाश करने-वाला मैं काल हूँ। तू लड़े या न लड़े, पर इन सब का नाश तो निश्चित ही समझ। तू तो निमित्तमात्र है।

अर्जुन बोला—'हे देव! हे जगन्निवास! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं, और इससे भी जो परे है, वह भी आप हैं। आप आदि देव हैं, आप पुराण-पुरुष हैं, आप इस जगत् के आश्रय हैं। आप ही जानने-योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हज़ारों नमस्कार हैं! अब अपना मूल-स्वरूप

धारण कीजिए।

"यह सुनकर भगवान् ने कहा—तुझ पर प्रसन्न होकर तुझे अपना विश्वरूप बताया है। वेदाभ्यास से, यज्ञ से, दूसरे शास्त्रों के अभ्यास से, दान से, और तप से भी जो रूप नहीं देखा जाता, वही आज तूने देखा है। इसे देख कर तू आकुल मत बन। डर छोड़ दे और मेरा परिचित रूप देख। मेरे ये दर्शन देवों को भी दुर्लभ हैं। मेरे दर्शन केवल शुद्ध भक्ति से ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करते हैं, मुझमें परायण रहते हैं, मेरे भक्त बनते हैं, आसक्ति- मात्र छोड़ते हैं और प्राणिमात्र के प्रति प्रेममय रहते हैं वही मुझे पाते हैं।

दसवें अध्याय की तरह इस अध्याय को भी मैंने जानबूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्य-मय है। इसलिए या तो मूल में अथवा अनुवाद के रूप में, यह

जैसा है, वैसा ही बार-बार पढ़ने योग्य है। ऐसा करने से सम्भव है, भक्ति-रस पैदा हो। यह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जानने की कसौटी अन्तिम श्लोक है। बिना सर्वार्पण और सर्वव्यापक प्रेम के भक्ति संभव नहीं। ईश्वर के काल-रूप का मनन करने से और इस बात का भान होने से कि उसके मुख में सृष्टिमात्र को समा जाना है, प्रतिक्षण काल का यह काम होता ही रहता है, सर्वार्पण और जीव-मात्र के साथ ऐक्य सहज ही प्राप्त होता है। इच्छा या अनिच्छा से जब हमें इस मुख में किसी अनिश्चित, अनजान-क्षण में समा जाना है, तो फिर छोटे-बड़े का, ऊंच-नीच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रह जाता। सब कालेश्वर के एक कौर हैं, इसे जानकर हम दीन, और शून्यवत् क्यों न बनें? क्यों न सबके साथ मित्रता बांधे? ऐसा

करनेवाले को यह कालस्वरूप भयंकर नहीं मालूम होगा, बल्कि शान्ति का स्थान बनेगा।

[यरवड़ा मन्दिर १६-१-३१

: १२ :

भक्तियोग

आज तो बारहवें अध्याय का सारांश देना चाहता हूं। यह भक्ति योग है। विवाह के अवसर पर हम दम्पति का पाँच यज्ञों में से एक यज्ञ-रूप में इसे कण्ठस्थ करके इसका मनन करने को कहते हैं। भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म शुष्क हैं, सूखे हैं। और बन्धन रूप भी हो सकते हैं। अतः भक्तिमय होकर गीता का यह मनन हम आरम्भ करें।

अर्जुन भगवान से पूछते हैं—"साकार को पूजनेवाले और निराकार को पूजनेवाले भक्तों में अधिक अच्छे कौन हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"जो मेरे साकार रूप का श्रद्धा-पूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं। पर जो निराकार तत्व को भजते हैं, और उसकी उपासना के लिए जो इन्द्रिय-मात्र का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसी को ऊंच-नीच नहीं समझते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जाता, कि इन दोनों में अमुक श्रेष्ठ है। परन्तु शरीरधारी से निराकार की भक्ति सम्पूर्ण रीति से होनी अशक्य मानी जाती है। निराकार निर्गुण है, और इसलिए मनुष्य की कल्पना से भी परे है। इसलिए सब देहधारी जान में अनजान में साकार के ही भक्त हैं। अतएव तू तो मेरे साकार विश्वरूप में ही अपना मन पिरो दे, सब उसके पास रख दे। यदि यह न किया

जा सके तो चित्त के विकारों को रोकने का अभ्यास शुरू कर। अर्थात् यम-नियमादि का पालन करके, प्राणायाम-आसनादि की मदद लेकर मन पर क़ाबू प्राप्त कर। यह भी न कर सकता हो तो जो-कुछ करे, वह मेरे ही लिए करता है, इस धारणा से तू अपने सब काम कर। इससे तेरा मोह, तेरी ममता घटेगी और वैसे-वैसे तू निर्मल और शुद्ध होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आवेगा। यह भी न हो सके, तो कर्ममात्र के फल का त्याग कर दे। अर्थात् फल की इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से जो काम आ जाय, वह किया कर। मनुष्य फल का स्वामी हो ही नहीं सकता। फल के उपजाने में अनेक अङ्ग या कारण इकट्ठा होते हैं, तब वह पैदा होता है। इसलिए तू केवल निमित्तमात्र बन जा। मैंने जो ये चार प्रकार बताये हैं, यह मत समझ कि इनमें कोई घटिया और कोई बढ़िया

है। इनमें से जो पसन्द आवे, सध सके, उस-से तू भक्ति का रस चख। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊपर यम-नियम-प्राणायाम आसनादि का जो मार्ग बताया है उसकी अपेक्षा श्रवण-भजन आदि ज्ञान-मार्ग सरल है, और उसकी अपेक्षा उपासना-रूप ध्यान सरल है, और ध्यान की भी अपेक्षा कर्म-फल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही बात समानतया सरल नहीं होती। और किसी-किसी को तो सब मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरे में मिले हुए तो हैं ही। जहाँ तहाँ से जैसे, बने, तुझे तो भक्त बनना है। जिस मार्ग से भक्ति सिद्ध होती हो, उस मार्ग से उसे साध ले, भक्त किसे कहा जाय, यह भी मैं तुझे बताये देता हूं। भक्त किसी का द्वेष न करे, किसी के प्रति वैर-भाव न रक्खे, जीव-मात्र के साथ मैत्री स्थापित करे; जीवमात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, इसके लिए

ममता का त्याग करे। आप मिटकर शून्यवत् बन जाय, दुःख-सुख समान माने, कोई दोष करे तो उसे क्षमा प्रदान करे, यह सोच कर कि खुद भी अपने दोषों के लिए जगत् में क्षमा का भूखा है। सन्तोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी न डिगे, मन और बुद्धि-सहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगों को उद्वेग न हो, वे न डरें, वह स्वयं भी लोगों से न दुःख माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष-शोक-भय आदि से मुक्त रहे। उसे किसी प्रकार की इच्छा न हो। वह पवित्र हो। कुशल हो उसने बड़े-बड़े आरम्भों का त्याग किया हो। निश्चय में दृढ़ रहता हुआ भी शुभ और अशुभ दोनों परिणामों का वह त्याग करे, अर्थात् उनके सम्बन्ध में निश्चिन्त रहे। उसके लिए कौन शत्रु और कौन मित्र है? उसको क्या मान और क्या अपमान? वह तो मौन धारण करके जो मिला

हो, उसीमें सन्तुष्ट रहे और एकाकी की भाँति विचरता हुआ, सब स्थितियों में स्थिर रहे—इस प्रकार जो श्रद्धावान बनकर बरतते हैं वे मेरे प्रिय भक्त हैं।

[यरवड़ा-मन्दिर, ४-११-३०

[प्रश्न—'भक्त आरम्भ न करे,' इस कथन का क्या अर्थ है ? एकाध दृष्टान्त देकर समझाइएगा ?

उत्तर—भक्त आरम्भ न करे, अर्थात् यह कि वह किसी भी व्यवसाय के मनसूबे न बाँधे। अगर वह व्यापारी है, और आज कपड़े का व्यापार करता है, तो कल लकड़ी का और बढ़ा लेने का प्रयत्न करे, या कपड़े के व्यापार की ही आज एक दूकान है, तो कल दूसरी पाँच खोलकर बैठ जाय, इसका नाम आरम्भ है। भक्त इसमें न फँसे। यह नियम

सेवाकार्य को भी लागू होता है। आज खादी द्वारा सेवा करे, तो कल गाय के द्वारा और परसों खेती के द्वारा और तरसों डॉक्टरी द्वारा, इस तरह सेवक कभी हाथ पैर न फैलावे। उसके हिस्से जो आ जाय, वह भलीभाँति कर छूटे। जहाँ 'मैं' नहीं रहा, वहाँ 'मुझे' करना ही क्या रहा?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे;
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"

अर्थात्—भगवान् ने मुझे सूत के तार से बाँधा है, वह जैसे-जैसे मुझे कसते हैं, वैसे-वैसे मैं उनकी होती जाती हूँ। मैं तो प्रेम की कटार से बिंध चुकी हूँ।

भक्त के सब आरम्भ भगवान् रचते हैं। उसके सब काम प्रवाह-प्राप्त होते हैं। इसलिए वह 'सन्तुष्टो येन केन चित्'—हर हालत में सन्तुष्ट

रहता है। सर्वारम्भ के त्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारम्भ का मतलब सब प्रवृत्ति या कार्य नहीं, बल्कि उन्हें करने के विचार, या मनसूबे हैं। इनका त्याग, यानी इन्हें आरम्भ न करना ; मनसूबे बाँधने की आदत हो, तो छोड़ देना। 'इदमद्य मयालब्धः इमं प्राप्स्ये मनोरथम्', यह आरम्भ के त्याग के विरुद्ध है। मेरा ख़याल है कि इसमें तुम्हारे प्रश्न का पूरा उत्तर आजाता है। कुछ रह गया हो, तो फिर पूछना।]

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

[सोम प्रभात

भगवान् बोले—इस शरीर का दूसरा नाम क्षेत्र है, और इसे जाननेवाले का नाम क्षेत्रज्ञ। सब शरीरों में रहनेवाले मुझको क्षेत्रज्ञ समझ। और सच्चा ज्ञान वह है, जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाना जा सके। पंच महाभूत, पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु; अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दसों इन्द्रिय—[पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय]—एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, संघात-अर्थात् जिन (तत्त्वों) का शरीर बना

हुआ है उनको एक होकर रहने की शक्ति,—चेतन शक्ति, शरीर के परमाणुओं में एक-दूसरे से लगकर रहने का गुण,—यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। यह शरीर और इसके विकार जान ले, क्योंकि उनका त्याग करना है। इस त्याग के लिए ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान अर्थात् अमानित्व या मान का त्याग, दम्भ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयों पर अंकुश, विषयों के प्रति वैराग्य, अहंभाव का त्याग, जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा और उससे लगे हुए रोग, दुःख और नित्य होनेवाले दोषों का पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-बार, सगे-सम्बन्धी आदि से मन हटा लेना, और ममता छोड़ना, अपनी पसन्द की कोई बात हो या नापसन्द की, उसके विषय में समता रखना, ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त सेवन, लोगों में मिलकर भोग

भोगने में अरुचि, आत्मा-विषयक ज्ञान की प्यास और अन्त; आत्मदर्शन। इसका जो उलटा है, वह अज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके जो वस्तु जानने की होती है और जिसे जानने से मोक्ष मिलता है, उसके बारे में कुछ सुन। वह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है, क्योंकि उसका जन्म नहीं। जब कुछ भी न था, तब भी वह परब्रह्मरूप तो था ही। वह न सत् है, और न असत् ही। वह उससे भी परे है। दूसरी दृष्टि से उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है, तो भी उसकी नित्यता को भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा है। उससे कोई भी खाली या रिक्त नहीं है। उसे हजारों हाथ-पैरवाला कह सकते हैं। और इस प्रकार यह भास होते हुए भी कि उसके हाथ-पैर आदि हैं, वह इन्द्रिय-रहित है। उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, इसलिए

वह उनसे अलिप्त है। इन्द्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं। परब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि सब में व्याप्त होकर और सबको धारण करके रहता है, इसलिए उसे गुणों का भोक्ता कह सकते हैं, तथापि वह गुण-रहित है। गुण है, वहाँ विकार अवश्य है, और परब्रह्म विकार-रहित है। गुण का अर्थ ही विकार है। यह भी कहा जा सकता है कि वह प्राणियों के बाहर है, क्योंकि जो उसे नहीं पहचानते उनके लिए तो वह बाहर ही है। और, प्राणियों के अन्दर तो है ही। क्योंकि सर्वव्यापक है। इसी प्रकार वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसी कारण ऐसा है कि जाना नहीं जा सकता। दूर भी है, और नज़दीक भी है। नामरूप का नाश है। तो भी वह तो है ही। इस प्रकार वह अविभक्त है। पर यह भी कहा जाता है कि वह असंख्य प्राणियों में है,

इसलिए विभक्त-रूप में भी भास होता है। वह उत्पन्न करता है, पालन करता है, और वही मारता है। तेजों का तेज है। अन्धकार से परे है। ज्ञान का अन्त उसमें आ चुका है। इन सब में रहनेवाला परब्रह्म ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्र की प्राप्ति केवल उसे पाने के लिए ही हो।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चले आये हैं। माया से विकार पैदा होते हैं। और उससे अनेक प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहता और कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी पुनः जन्म नहीं लेता। क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वर को ही देखता है। और, उसकी प्रेरणा के बिना एक पत्ता तक हिल नहीं सकता, यह समझकर वह अपने

सम्बन्ध में 'अहंभाव' को मानता ही नहीं और अपने को शरीर से भिन्न देखता है और समझता है कि आकाश सर्वत्र होते हुए भी जैसे सूखा ही रहता है, वैसे ही जीव शरीर में होते हुए भी ज्ञान-द्वारा सूखा रह सकता है।

[यरवड़ा-मन्दिर, २६-१-'३१

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

[सोम प्रभात

श्री भगवान् बोले—जिस उत्तम ज्ञान को पाकर ऋषि-मुनियों ने परम सिद्धि पाई है, वह मैं फिर से तुझे कहता हूँ। उस ज्ञान को पाकर और तदनुसार धर्म का आचरण करके लोग जन्म-मरण के चक्कर से बचते हैं। हे अर्जुन, यह जान ले कि मैं जीव-मात्र का माता-पिता हूँ। प्रकृति-जन्य तीन गुण, सत्, रजस् और तमस् देही को बाँधनेवाले हैं। इन गुणों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्वगुण

निर्मल और निर्दोष है और प्रकाश देनेवाला है। इसलिए उसकी सङ्गति सुखद सिद्ध होती है। रजस् की उत्पत्ति राग और तृष्णा से होती है, इसलिए वह मनुष्य को धाँधली में डाल देता है। तमस् का मूल अज्ञान है, मोह है, उससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतएव संक्षेप में कहें, तो सत्व से सुख, रजस् से धाँधली और तमस् से आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व विजयी होता है। सत्त्व और तमस् को दबा-कर रजस् जय प्राप्त करता है, और सत्त्व और रजस् को दबाकर तमस् विजयी बनता है। देह के सब व्यापारों में जब ज्ञान का अनुभव पाया जाय तब समझना चाहिए कि उसमें सत्त्व गुण प्रधानतया काम कर रहा है। जहाँ लोभ, धाँधली, अशान्ति, स्पर्धा पाई जाय, वहाँ रजस् की वृद्धि समझनी चाहिए। और

जहाँ अज्ञान, आलस्य, मोह का अनुभव हो, वहाँ तमस् का राज्य समझना चाहिए। जिसके जीवन में सत्व गुण प्रधान होता है, वह मरने के बाद ज्ञानमय निर्दोष लोक में जन्म लेता है। रजस् प्रधान होने पर धाँधली लोक या मनुष्य लोक में जाता है, और तमस् प्रधान होने पर मूढ़ योनि में जन्म लेता है। सात्विक कर्म का फल निर्मल, राजसी का दुःखमय और तामसी का अज्ञान-पूर्ण होता है। सात्विक लोक की गति उच्च, राजसी की मध्यम और तामसी की अधम होती है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि गुणों के सिवा अन्य कोई कर्त्ता नहीं है, और गुणों से परे मैं हूँ, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। देह में वर्तमान इन तीन गुणों को जो देही पार कर जाता है, वह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों को पार करके अमृतमय मोक्ष पाता है।

इस पर अर्जुन पूछता है कि—"जब गुणातीत की ऐसी सुन्दर गति होती है, तो उसके लक्षण क्या हैं, और उसका आचरण कैसा है, और वह तीनों गुणों को पार कैसे करलेता है?"

भगवान् उत्तर देते हैं—"जब मनुष्य अपने ऊपर जो कुछ भी आ पड़े—फिर भले वह प्रकाश हो, प्रवृत्ति हो, या मोह हो;—ज्ञान हो, धाँधली हो, या अज्ञान—उसके लिए अतिशय दुःख या सुख नहीं मानता, या इच्छा नहीं करता, या जो गुणों के सम्बन्ध में तटस्थ रहकर डाँवाडोल नहीं होता, जो यह समझ कर कि गुण अपना कार्य करते ही रहते हैं, स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख को समान समझता है, जिसे लोहा या पत्थर या सोना समान हैं, जिसे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, जिस पर निन्दा या स्तुति का कोई असर नहीं होता, जो मान और अपमान को समान समझता है, जो शत्रु-मित्र

के प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरम्भों का त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। इन लक्षणों को सुनकर चौंकने या आलसी बनकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठने की आवश्यकता नहीं है। मैंने तो सिद्ध की दशा बताई है। उस तक पहुंचने का मार्ग यह है—व्यभिचार-रहित भक्तियोग-द्वारा मेरी सेवा कर। तीसरे अध्याय के शुरू से तुझे यह बताया है कि कर्म के बिना, प्रवृत्ति के बिना, कोई साँस भी नहीं ले सकता। अतएव कर्म तो देही-मात्र के पीछे लगे ही हैं। जो साधक गुणों से परे पहुंचना चाहता है, उसे सब कर्म मेरे अर्पण करने चाहियें। और फल की इच्छा तक न रखनी चाहिये। ऐसा करने से उसे उसके कर्म बाधक न होंगे। क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ, मोक्ष मैं हूँ, सनातनधर्म मैं हूँ, अनन्त सुख मैं हूँ, जो कहो, सो मैं हूँ। मनुष्य शून्यवत्

बने, तो सब जगह मुझे ही देखे—बस वही गुणातीत है।

[यरवड़ा-मन्दिर, ता० २५-१-३२

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

[सोम प्रभात

श्री भगवान् बोले—इस संसार को दो तरह देखा जा सकता है। एक, जिसका मूल ऊपर है, शाखा नीचे है, और जिसके वेदरूपी पत्ते हैं, ऐसे पीपल के रूप में जो संसार को देखता है, वह वेद का जानकार ज्ञानी है। दूसरा तरीक़ा यह है—संसार-रूपी वृक्ष की शाखा ऊपर-नीचे फैली हुई है। उसमें तीन गुणों से बढ़े हुए विषय-रूपी अंकुर हैं, और वे विषय जीव को मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धन से बाँधते हैं। न तो इस वृक्ष

का स्वरूप जाना जा सकता है, न इसका आरम्भ है न अन्त, और न ठिकाना। यह दूसरे प्रकार का संसार-वृक्ष है। यद्यपि इसने जड़ तो बराबर जमाई है, तथापि इसे असहयोगरूपी शस्त्र-द्वारा काटना है, जिससे आत्मा उस लोक में पहुंचे, जहाँ से उसे लौटने की ज़रूरत न रहे। ऐसा करने के लिए वह निरन्तर उस आदि-पुरुष को भजे, जिसकी माया-द्वारा यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है। जिन्होंने मान, मोह छोड़ दिये हैं, जिन्होंने संग-दोषों को जीत लिया है, जो आत्मा में लीन हैं, जो विषयों से छूट चुके हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान हैं, वे ज्ञानी अव्यय पद को पाते हैं। उस जगह न तो सूर्य को, न चन्द्र को और न अग्नि को प्रकाश करने की ज़रूरत होती है। जहाँ जाने के बाद फिर लौटना नहीं पड़ता, वह मेरा परम स्थान है।

जीवलोक में, मेरा सनातन अंश जीव के रूप में प्रकृति की मन-सहित छः इन्द्रियों को आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और छोड़ता है, तब जैसे वायु अपने स्थान से गन्धों को साथ लेकर घूमा करता है, वैसे ही यह जीव भी इन्द्रियों को साथ लेकर घूमा करता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन, इनका आश्रय लेकर जीव विषयों का सेवन करता है। मोह में पड़े हुए अज्ञानी इस गुणोंवाले जीव को चलते, स्थिर रहते या भोग भोगते हुए पहचानते नहीं। ज्ञानी यह पहचानते हैं। यत्नशील योगी अपने में रहने वाले इस जीव को पहचानते हैं; लेकिन जिन्होंने समभाव रूपी योग को सिद्ध नहीं किया है, वे यत्न करने पर भी इसे नहीं पहचानते।

सूर्य का जो तेज जगत् को प्रकाशित करता है, जो चन्द्र में है, जो अग्नि में है, उस

सबको मेरा तेज समझो। अपनी शक्ति-द्वारा शरीर में प्रवेश करके मैं जीवों को धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर औषधि-मात्र का पोषण करता हूँ। प्राणियों की देह में रहकर मैं जठराग्नि बनता और प्राण-अपान वायु को समान बनाकर चारों प्रकार का अन्न पचाता हूँ। सब हृदयों में मैं रहता हूँ। मेरे कारण ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है। सब वेदों-द्वारा जानने योग्य मैं हूँ। वेदान्त भी मैं हूँ। वेद जाननेवाला भी मैं हूँ।

कह सकते हैं कि इस लोक में दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर, अर्थात् नाशवान और नाश-रहित। इसमें जीव क्षर हैं, और उनमें रहनेवाला मैं अक्षर। और, उससे भी परे उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश कर उनका पालन करता है। वह ईश्वर भी मैं हूँ। इसलिए मैं

क्षर और अक्षर से भी उत्तम हूं। और लोक और वेद में पुरुषोत्तम-रूप से प्रसिद्ध हूं। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम-रूप में पह-चानता है वह सब-कुछ जानता है, और सब भावों-द्वारा मुझे भजता है। हे निष्पाप अर्जुन! यह अति गुह्यशास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् बनता और अपने ध्येय को पहुंचता है।

[यरवडा-मन्दिर ३१-१-'३२ रात को

: १६ :

दैवासुरसंपद्विभागयोग

श्री भगवान् कहते हैं—अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्ति का भेद बताता हूं। धर्मवृत्ति के सम्बन्ध में तो पहले बहुत कह चुका हूं, फिर भी उसके लक्षण कहे देता हूं। जिसमें धर्मवृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान, समता, इन्द्रिय-दमन, दान, यज्ञ, शास्त्रों का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न खाना अर्थात् अपैशुनता, भूतमात्र पर दया, अलो-लुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज,

क्षमा, धीरज, अन्तर और बाहर का चोखापन, अद्रोह और निरभिमान होता है।

जिसमें अधर्मवृत्ति होती है उसमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान पाये जाते हैं।

धर्मवृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति उसे बन्धन में डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जन्मा है।

अधर्मवृत्ति को थोड़े विस्तार से कहूंगा, जिससे लोग सहज ही इसका त्याग करें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं जानता। उसे शुद्ध-अशुद्ध या सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं होता। उसके आचरण का तो फिर ठिकाना ही क्या? उसके ख़याल में जगत् झूठा और निराधार है। जगत् का कोई नियंता नहीं। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही

उसका जगत् है, अर्थात् उसमें विषय-भोग को छोड़कर और कोई विचार ही नहीं होता।

ऐसी वृत्तिवाले के काम भयानक होते हैं। उसकी मति मंद होती है। ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारों को पकड़े रहते हैं और जगत् के नाश के लिए ही उनकी सारी प्रवृत्ति होती है। उनकी कामनाओं का अन्त ही नहीं होता। वे दंभ, मान, मद में मस्त रहते हैं।

इस कारण उनकी चिन्ता का भी पार नहीं रहता। उन्हें नित-नये भोगों की आवश्यकता होती है। वे सैकड़ों आशाओं के गढ़ उठाते हैं और अपनी कामनाओं के पोषण के लिए धन बटोरने में तो वे न्याय-अन्याय का भेद ही नहीं रखते।

आज यह पाया, कल यह दूसरा प्राप्त कर लूँगा, इस शत्रु को आज मारा, कल दूसरों को मारूँगा, मैं बलवान् हूँ, मेरे पास

ऋद्धि-सिद्धि है, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्ति कमाने के लिए यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, और मौज करूँगा। इस प्रकार मन ही मन वे फूले फिरते हैं, और आखिर मोह-जाल में फँसकर नरक-वास भोगते हैं।

ये आसुरी लोग अपने घमण्ड में रहकर, पर-निन्दा करके सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते हैं, और इस कारण ये बारम्बार आसुरी योनि में जन्म करते हैं।

आत्मा का नाश करनेवाले इस नरक के तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध, लोभ। सबको इन तीनों का त्याग करना चाहिए। इनका त्याग करनेवाले कल्याण-मार्ग पर जानेवाले होते हैं और वे परमगति पाते हैं।

जो अनादि सिद्धान्तरूपी शास्त्र का त्याग कर स्वेच्छा से भोग में लीन रहते हैं, वे न तो सुख पाते हैं, न कल्याण-मार्ग की शान्ति ही

प्राप्त करते हैं । इसलिए कार्य-अकार्य का निर्णय करने में अनुभवियों से अविचल सिद्धान्त जान लेने चाहिएँ और तदनुसार आचार-विचार बनाने चाहिएँ ।

[यरवड़ा-मन्दिर, ७-२-'३२

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन पूछता है-"जो शिष्टाचार छोड़कर, लेकिन श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी क्या गति होती है ?"

भगवान् उत्तर देते हैं-"श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विक, राजसी व तामसी। जैसे जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा वह बनता है।

सात्त्विक मनुष्य देव को, राजस यक्ष-राक्षस को और तामस भूत-प्रेत को भजते हैं।

लेकिन एकाएक यह नहीं जाना जा सकता कि किसकी श्रद्धा कैसी है। इसके लिए यह

जानना चाहिए कि उसका आहार कैसा है, तप कैसा है, दान कैसा है, यज्ञ कैसा है? और इन सबके भी तीन प्रकार हैं, सो भी कह देता हूँ।

जिस आहार से आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्त्विक है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है, और उससे दुःख और रोग पैदा होते हैं। जो राँधा हुआ आहार बासी, बदबूदार, जूठा या और किसी तरह अपवित्र होता है, उसे तामस समझो।

जिस यज्ञ के करने में फल की इच्छा न हो, जो कर्त्तव्यरूप में तन्मयता से किया जाय, वह सात्त्विक है। जिसमें फल की आशा है, और दम्भ भी है उसे राजसी यज्ञ समझो। जिसमें कोई विधि नहीं, कुछ उत्पन्न नहीं, कोई मन्त्र नहीं, कोई त्याग नहीं वह यज्ञ तामसी है

जिसमें सन्तों की पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्मग्रन्थ का अभ्यास वाचिक तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्य, मौन, संयम, शुद्ध भावना, मानसिक तप है। जो समभाव से फल की इच्छा छोड़ कर इस प्रकार का शारीरिक वाचिक या मानसिक तप करता है, उसका तप सात्त्विक कहलाता है। जो तप मान की आशा से, दंभपूर्वक किया जाय, उसे राजसी समझो। और जो तप पीड़ा पाकर, दुराग्रह से, या पराये का नाश करने के लिए किया जाय, जिससे शरीर में रहनेवाली आत्मा को निरर्थक क्लेश हो, वह तप तामसी है।

'देना चाहिए', इसलिए, फल की इच्छा के बिना, देश, काल, पात्र, देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदले की आशा है,

और जिसे देते हुए संकोच होता है, वह दान राजसी है। देश-काल आदि का विचार किये बिना, तिरस्कार के साथ या असम्मानपूर्वक दिया गया दान तामसी है।

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत्सत्' रूप में किया है। इसलिए श्रद्धालु यज्ञ, दान, तप, आदि क्रियाएँ इसके उच्चारणपूर्वक करें। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म. तत अर्थात् वह, सत अर्थात् सत्य, कल्याण रूप; अर्थात ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करनेवाला है। जो इस प्रकार की भावना रखकर ईश्वरार्पण बुद्धि से यज्ञादि करता है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी है; और वह शिष्टाचार को जानते हुए या न जानते हुए भी ईश्वरार्पण बुद्धिपूर्वक उससे कुछ भिन्न भी करता है, तो भी वह दोष-रहित है।

लेकिन जो क्रिया ईश्वरार्पण बुद्धि से

नहीं की जाती, वह श्रद्धा-रहित मानी जाती है, और इसलिए असत् है।"

[यरवडा मन्दिर १४-२-'३२

: १८ :

मोक्षसंन्यासयोग

पिछले सत्रहवें अध्याय का मनन करने के बाद अर्जुन के मन में और भी शङ्का रह जाती है; क्योंकि गीता का संन्यास उसे प्रचलित संन्यास से जुदा मालूम पड़ता है। क्या त्याग और संन्यास दो अलग चीजें हैं?

इस शङ्का का निवारण करते हुए भगवान् इस अन्तिम अध्याय में गीता-शिक्षण का दोहन किये देते हैं।

कई-एक कर्म कामना-पूर्ण होते हैं। अनेक प्रकार की इच्छा पूरी करने के लिए लोग

उद्यम करते हैं। ये काम्य-कर्म हैं। दूसरे आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं; जैसे श्वासोच्छ्वास लेना, देह की रक्षा के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही खाना, पीना, पहनना, सोना बैठना वगैरा। तीसरे कर्म पारमार्थिक कर्म हैं। इनमें से काम्य-कर्मों का त्याग गीता का संन्यास है; और कर्म-मात्र के फल का त्याग, गीता-मान्य त्याग है।

यह भले कहा जाय कि कर्म-मात्र में थोड़ा दोष तो रहता ही है। फिर भी यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ किये जाने वाले कर्मों का त्याग नहीं किया जाता। यज्ञ में दान और तप का समावेश हो जाता है। लेकिन परमार्थ में भी आसक्ति—मोह—न होनी चाहिए। अन्यथा उसमें बुराई घुस जाने की सम्भावना है।

मोहवश नियत कर्म का त्याग करना तामसी त्याग है। देह को कष्ट होगा, यह

समझकर किया गया त्याग राजसी है; लेकिन जो सेवा-कार्य फल की इच्छा न रख कर, 'करना चाहिए' इसलिए, ऐसी भावना से, किया जाता है, वही सच्चा सात्विक त्याग है। अर्थात् इस त्याग में कर्म-मात्र का त्याग नहीं है, बल्कि कर्त्तव्य-कर्म के फल का त्याग है। और, दूसरे अर्थात् काम्य-कर्मों का तो त्याग है ही। ऐसे त्यागी के दिल में शङ्कायें उठती नहीं, उसकी भावना शुद्ध होती है, और वह सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करता।

जो कर्मफल का त्याग नहीं करते, उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। और इस कारण वे बन्धन में रहा करते हैं। जिसने फल-त्याग किया है, वह बन्धन मुक्त होता है।

और, कर्म का मोह क्या है? यह अभिमान कि 'मैं ही करता हूँ' मिथ्या है। कर्ममात्र की सिद्धि में पाँच कारण होते हैं—स्थान, कर्त्ता,

साधन, क्रियायें, और—इन सब के होते हुए भी अन्तिम—दैव।

यह जानकर मनुष्य को अभिमान छोड़ना चाहिए। और, जो 'अहन्ता' को छोड़कर कर्म करता है, उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह जो-कुछ करता है, सो करते हुए भी नहीं करता। क्योंकि वह कर्म उसे बाँधता नहीं। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह मारते हुए भी नहीं मारता। इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोई भी मनुष्य शून्यवत् होकर भी हिंसा करे और अलिप्त रहे; क्योंकि निरभिमान को हिंसा करने का प्रयोजन नहीं रहता।

कर्म की प्रेरणा में तीन चीजें होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता।

इनके तीन अङ्ग होते हैं—इन्द्रियाँ, क्रिया,

और कर्त्ता। क्या करना है, वह ज्ञेय है, उसकी रीति ज्ञान है, और उसे जाननेवाला परिज्ञाता है।

इस प्रकार प्रेरणा होने के बाद जो कर्म होते हैं, उनमें इन्द्रियाँ कारण होती हैं, जो करना है, वह क्रिया है। और उसे करनेवाला कर्त्ता है। इस प्रकार विचार से आचार की उत्पत्ति होती है। जिससे हम प्राणी-मात्र में एक ही भाव देखें, अर्थात् सब-कुछ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी गहरे पैठने पर, एक ही लगे, वह सात्विक ज्ञान है।

इसके विपरीत जो भिन्न दीखता है, वह भिन्न ही प्रतीत हो, तो वह राजस् ज्ञान है।

और जहाँ कुछ पता ही नहीं चलता, और सब-कुछ बिना कारण मिलावट वाला या मिश्र मालूम पड़ता है, वह तामस ज्ञान है।

ज्ञान की तरह कर्म के विभाग भी किये जा सकते हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं, राग-द्वेष नहीं, वह कर्म सात्विक है। जहाँ भोग की इच्छा है, मैं करता हूँ, ऐसा अभिमान है, और इस कारण धाँधली है, वह राजस कर्म है। जहाँ न परिणाम का, न हानि का, न हिंसा और न शक्ति का विचार है, और जो मोहवश किया जाता है, वह तामस कर्म है।

कर्म की तरह कर्त्ता भी तीन प्रकार के जानो; यद्यपि कर्म को पहचानने के बाद कर्त्ता को पहचानने में कठिनाई हो ही नहीं सकती। सात्विक कर्त्ता वह है, जिसे राग नहीं, अहंकार नहीं और फिर भी जिस में दृढ़ता है, साहस है और तिस पर भी जिसे भले-बुरे फल का हर्ष-शोक नहीं। राजस कर्त्ता में राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो होता ही है, तो फिर कर्म-फल को

इच्छा की तो बात ही क्या ? और जो व्यवस्था-हीन है, दीर्घसूत्री है, हठीला है, शठ है, आलसी है, संक्षेप में संस्कार-विहीन है, वह तामस कर्त्ता है।

बुद्धि, धृति, और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकारों को जान लेना अच्छा है।

सात्विक बुद्धि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, अकार्य-कार्य, भय-अभय, बंध-मोक्ष, वगैरा का बराबर भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करती तो है, लेकिन बहुधा झूठा या उलटा भेद करती है, और तामसी बुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती और सब-कुछ उलटा ही देखती है।

धृति अर्थात् धारण, किसी भी चीज़ को ग्रहण करके उसपर डटे रहने की शक्ति। यह शक्ति कम या अधिक परिमाण में सब में है। यदि न हो तो जगत् क्षण-मात्र के लिए भी न

टिक सके। तो जिसमें मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया का साम्य है, समानता है, और एक निष्ठा है वह धृति सात्विकी है। जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निद्रा, भय, शोक, निराशा, मद वग़ैरा छोड़ने नहीं देती, वह तामसी है।

सात्विक सुख वह है, जिसमें दुःख का अनुभव नहीं, जो आरंभ में भले जहर-सा लगे, लेकिन हम जानते हैं कि परिणाम वही अमृत-समान होगा; और जिसमें आत्मा प्रसन्न रहती है। विषय-भोग में, जो आरंभ में मीठा लगता है, लेकिन बाद में ज़हर-सा बन जाता है, जो सुख है, वह राजस सुख है; और जिसमें केवल मूर्छा, आलस्य, और निद्रा ही रहते हैं, वह तामस सुख है।

इस प्रकार हरेक चीज़ के तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मण आदि चार वर्ण भी इन तीन गुणों की कमी या अधिकता के कारण बने हैं। ब्राह्मण के कर्म में शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव और आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रिय में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, राज्य चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गोरक्षा, व्यापार वैश्य का और सेवा शूद्र का कर्म है। इसका यह अर्थ नहीं कि एक-दूसरे के गुण एक-दूसरे में होते ही न हों, या इन गुणों को बढ़ाने का एक-दूसरे को अधिकार ही न हो, बल्कि ऊपर दिये गये गुण या कर्म के अनुसार उस-उस वर्ण की पहचान की जा सकती है। यदि प्रत्येक वर्ण के गुण-कर्मों को पहचाना जाय, तो एक-दूसरे के बीच द्वेष-भाव पैदा न हो और न हानिकारक होड़ होने लगे। यहाँ

ऊँच-नीच की भावना को स्थान नहीं। लेकिन यदि सब अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम-भाव से अपने कर्म किया करें, तो वे उन-उन कर्मों को करके मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। इसीलिए कहा भी है, कि पर धर्म भले सरल प्रतीत होता हो, और स्वधर्म निःसत्व या बेकार जान पड़ता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। सम्भव है कि स्वभाव-जन्य कर्म में पाप न हो, क्योंकि उसीमें निष्कामता की रक्षा होती है। दूसरे, किसी चीज़ की इच्छा करने में ही कामना आ जाती है। अन्यथा जिस प्रकार अग्निमात्र में धुआँ है, उसी प्रकार कर्म-मात्र में दोष तो है ही। लेकिन सहज-प्राप्त कर्म, फल की इच्छा के बिना किया जाय, तो कर्म का दोष नहीं लगता।

और, इस प्रकार जो स्वधर्म का पालन करते हुए शुद्ध बना है; जिसने मन को वश में

रक्खा है, जिसने पाँचों विषयों का त्याग किया है, जिसने राग-द्वेष जीते हैं, जो एकान्त-सेवी अर्थात् अन्तर्ध्यान रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन और काया को अंकुश में रखता है, निरन्तर ईश्वर के ध्यान में लगा रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि का त्याग किया है, वह शान्त योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव से बरतता है और हर्ष-शोक नहीं करता। ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्व को यथार्थ पह-चानता है और ईश्वर में लीन रहता है। इस प्रकार जो भगवान् का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि सब मेरे अर्पण कर, मुझमें परायण बन, और विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर मुझ में चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा, तो सारी बिड-म्बनाओं से पार हो जायगा। लेकिन यदि

अहंता रखकर मेरी बात न सुनेगा, तो विनाश को प्राप्त होगा। तत्त्व की बात तो यह है कि तमाम प्रपञ्च छोड़कर मेरी ही शरण गह, जिससे तू पाप-मुक्त बनेगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है, और जो मुझ से द्वेष करता है उसे यह ज्ञान न बतलाना। लेकिन यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी भक्ति करने के कारण अवश्य मुझे पावेगा।

अन्त में संजय धृतराष्ट्र से कहता है—"जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।"

यहाँ कृष्ण को योगेश्वर विशेषण दिया है, जिससे उसका शाश्वत अर्थ शुद्ध अनुभव ज्ञान होता है, और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह सूचित किया गया है, कि जहाँ ऐसा अनुभव-

सिद्ध ज्ञान का अनुसरण करने वाली क्रिया है, वहाँ परमनीति की अविरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

[यरवड़ा मन्दिर ता० २१-२-'३२

सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

नाम पुस्तक	मूल्य
१—दिव्य जीवन।	।=)
२—जीवन साहित्य।	१।)
३—तामिल वेद।	।।।)
४—भारत में व्यसन और व्यभिचार।	।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ। [जब्त अप्रा०]	।।।)
६—भारत के स्त्री-रत्न।	३)
७—अनोखा। [अप्राप्य]	१।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान।	।।।=)
९—यूरोप का इतिहास।	२)
१०—समाज-विज्ञान।	१।।)
११—खद्दर का संपत्तिशास्त्र।	।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व।	।।।=)
१३—चीन की आवाज़। [अप्राप्य]	।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास।	१।)
१५—विजयी बारडोली। [अप्राप्य]	२)
१६—अनीति की राह पर।	।।=)

१७—सीता की अग्नि-परीक्षा । ।=)
१८—कन्या शिक्षा । ।)
१९—कर्मयोग । ।=)
२०—कलवार की करतूत । =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता । ॥)
२२—अन्धेरे में उजाला । ॥)
२३—स्वामी जी का बलिदान । [अप्राप्य] ।=)
२४—हमारे जमाने की गुलामी । [जब्त अ०] ।)
२५—स्त्री और पुरुष । ॥)
२६—सफाई । ।=)
२७—क्या करें ? १॥=)
२८—हाथ की कताई बुनाई । [अप्राप्य] ॥=)
२९—आत्मोपदेश । ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन । [अप्राप्य] ॥=)
३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे । ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह । [अप्राप्य] ॥=)
३३—श्री राम चरित्र । १।)
३४—आश्रम-हरिणी । ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष । =)